स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज

द्वारा प्रणीत धर्म ग्रन्थों एवं आध्यात्मिक प्रवचनो में से संकलित

अनमोल अमृत वचन

संकलन कर्ता

डा. बृजेन्द्र नारायण माथुर

डा० बृजेन्द्र नारायन माथुर

जन्म: 12 मई, 1937 (जयपुर, राज.), एम.एस.सी. (1958), पी.जी. निमेटोल (सूत्र कृमि विज्ञान) दी नीदरलैंड (1965-66), पी.एच.डी (1968), राजस्थान कृषि विभाग तथा राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय में अनेको पदों पर 39 वर्ष तक अनुसंधान, शिक्षण व प्रसार का लम्बा अनुभव। 1997 में सूत्र कृमि विज्ञान विभाग, कृषि अनुसंधान केन्द्र दुर्गापुर परिसर से आचार्य पद से अवकाश प्राप्त किया। कई विश्वविद्यालयों के छात्रों की एम.फिल एव पी.एच.डी की शोध पुस्तिकाओं का मूल्यांकन किया, विद्यार्थियों के पी.एच.डी अनुसंधान का निर्देशन किया। विषय से सम्बन्धित अनेकों प्रतिष्ठित संस्थाओं की सदस्यता, उनकी कार्यकारिणी समितियों तथा उनके द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिकाओं के सम्पादन में भागीदारी। प्रादेशिक व देश की पब्लिक सर्विस कमिशन, विश्वविद्यालयों की चयन समिति में सदस्यता तथा विभिन्न परीक्षाओं में परीक्षक के रूप में सेवाएं दीं। अनेकों राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सूत्र कृमि विज्ञान की गोष्ठियों में सक्रिय भागीदारी।

विदेश यात्राएं : दी नीदरलैण्ड्स (हालैण्ड), बेल्जियम, लग्जमबर्ग, फ्रांस, मोनाको, जर्मनी व ग्रेट ब्रिटेन (1965-66), संयुक्त राष्ट्र ऑफ अमेरिका व कनाडा (1984) व सीरिया (1993)।

संप्रति : आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन व मनन।

(2012 -2021) अंग्रेजी पुस्तकें Daily Meditation on the Divine Spiritual Life" based on the spiritual teaching of "Swami Dayanand Giriji Maharaj" का संकलन

(2013) दैनिक आध्यात्मिक जीवन दर्शन (दो भागों में)

वर्तमान पता : F401, Residency
Ardee City
Gurugram 122 002 (Haryana)

स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज

द्वारा प्रणीत धर्म ग्रन्थों एवं आध्यात्मिक प्रवचनों में से संकलित

अनमोल अमृत वचन

संकलन कर्ता

डॉ. बृजेन्द्र नारायण माथुर

अम्बाला एवं अन्य स्थानों के स्वामी जी महाराज
के भक्तों द्वारा प्रकाशित

मूल्य: श्रद्धा [illegible] अध्ययन, मनन एवं आचरण

(निःशुल्क वितरणार्थ)

प्रथम संस्करण: मार्च 19, 2017
द्वितीय संस्करण: नवम्बर, 2021

प्राप्ति स्थान:
ज्ञान चन्द गर्ग
99, प्रीत नगर,
अम्बाला शहर-134003 (हरियाणा)
दूरभाष : 0171-2552761

मुद्रनालय:
महाजन एण्टरप्राईज़ेज
अम्बाला छावनी
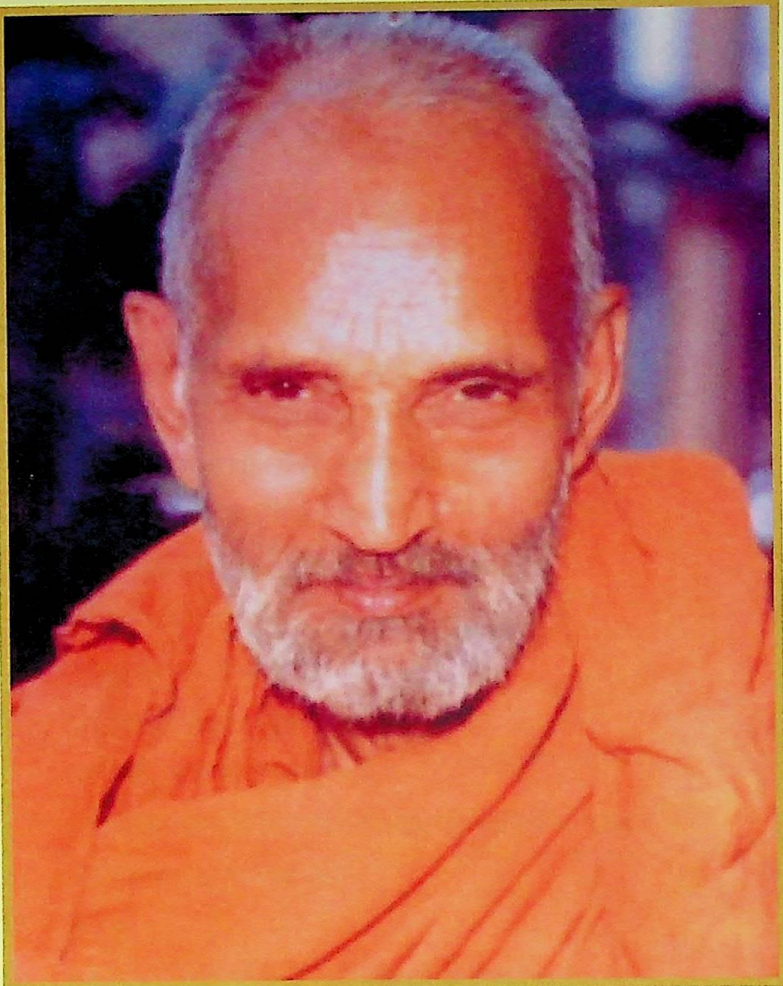
परमहंस वीतराग

स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज

(19 मार्च, 1919 – 23 नवम्बर, 2004)

विषय सूची

दो शब्द

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः

23 नवम्बर 2004 को देवउत्थानी एकादशी के दिन ब्रह्ममुहूर्त में प्रातः 4 बजे पूज्य श्री परमहंस स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज ने स्वयं इच्छा से चोला त्याग दिया। स्वामी जी की इच्छा के अनुरूप उनका पार्थिव शरीर 24 नवम्बर 2004 को गंगा जी के तट पर नीलधारा हरिद्वार में जल-समाधि देकर भारी संख्या में संत महात्माओं व भक्तों की उपस्थिति में वेद मन्त्रों के साथ लीन कर दिया गया। कर्म, भक्ति व ज्ञान का मार्ग समझने वाले पूर्ण ब्रह्मज्ञानी सन्तों व ऋषियों का कहना है कि पूज्य श्री परमहंस स्वामी जी महाराज जैसा रमता राम जिसने अपने संन्यास के दौरान पूरे भारत वर्ष की पदयात्रा की, सवारी का त्याग किया, धन का स्पर्श नहीं किया, कोई भी मठ व आश्रम अपने लिये नहीं बनाया, दिन भर पूर्ण आयु पैदल भ्रमण किया और यहाँ भी रात्रि पड़ जाती थी वहीं पर ही सड़क के किनारे पेड़ों के नीचे या किसी खण्ड़र पड़ी इमारत के बरामदे में अपना आसन लगाकर रात्रि बिता लिया करते थे, इस पंजाब प्रान्त की धरती पर न जाने फिर कब आयेगा। किसी से भी जीवन के अन्तिम समय तक सेवा नहीं ली। दिनभर में एक ही समय नारायण 'हरि' कहकर पाँच घरों की भिक्षा मांगकर खप्पड़ में डलवाकर ग्रहण कर लिया करते थे। सभी को नारायण कहकर पुकारते थे और सभी में नारायण के ही दर्शन करते थे। जब भी कोई भक्त स्वामी जी के पास दर्शनों के लिये जाता था तो वे हमेशा उन्हें पद्मासन पर ही विराजमान मिलते थे।

पूज्य श्री परमहंस स्वामी जी महाराज ने अपने संन्यास काल में आध्यात्मिक जीवन पद्यावली (व्याख्या सहित) और कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद् विवरण नामक धार्मिक ग्रन्थों को प्रणीत किया। इनके अलावा स्वामी जी महाराज द्वारा उज्जड़ कुटि (कराला गांव) व अम्बाला शहर में बोले गये 42 प्रवचनों को टेपों में लिपीबद्ध करके कराला गाँव दिल्ली-6 के भक्तों (विशेषतौर पर श्री बलवन्त माथुर) ने स्वामी जी को सुनाकर उनकी आज्ञा से इन आध्यात्मिक प्रवचनों को दो भागों में छपवा दिये। यह सभी धर्म ग्रन्थ स्वयं प्रकाश साहित्य हैं अपने आप में अपना comment हैं। इनमें कर्म-काण्ड, ध्यानोपासना काण्ड व दर्शन काण्ड का विस्तार से स्वामी जी द्वारा निरूपण किया गया है। मूल रूप में यह सभी पुस्तकें धर्म प्रेमियों के अध्ययन व मनन करने के लिए उपलब्ध हैं। डा. बी.एन. माथुर जो एक वैज्ञानिक हैं उन्हें ने बड़ी श्रद्धा व लगन से इन उपर

लिखित सभी ग्रन्थों में से स्वामी जी के अनमोल अमृत वचनों को पुस्तक के रूप में संकलन किया है जो अति सराहनीय शुभ कार्य है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। धर्म प्रेमी समुदाय इस पुण्य कार्य के लिये डॉ. बी.एन माथुर साहेब जी का हृदय से ऋणी रहेगा और वे पुण्य के भागी भी बने हैं। मैं डॉ. बाँके लाल शर्मा सेवानिवृत प्रिंसीपल कुरूक्षेत्र यूनीवर्सिटी, कुरूक्षेत्र का भी अति आभारी हूँ जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार करते हुए डॉ. बी.एन. माथुर जी द्वारा संकलित अनमोल अमृत वचनों को बड़ी लग्न व श्रद्धा से छपने से पहले पढ़ने की कृपा करी और कहीं पर भी यदि उन्हें छोटी-मोटी त्रुटि पाई उसे ठीक कर दी गई।

आज से लगभग 125 वर्ष पूर्व परम पूज्य श्रद्धेय श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था कि "भारतवर्ष दुनिया का आध्यात्मिक गुरू था, है और भविष्य में भी रहेगा"। यह बात पूज्य श्री परमहंस स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज के जीवन चर्या से बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है। स्वामी जी एक भिक्षु, विरक्त, पूर्ण त्यागी, महान योगी, तपस्वी, ज्ञानी व परमहंस ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी आत्म दर्शी महात्मा थे जिनका पूर्ण जीवन अद्‌भुत था और दूसरों की भलाई के लिए ही समर्पित था। वे सभी प्राणियों से प्रेम करते थे क्योंकि *''आत्म राम सकल घट माहीं''*। स्वामी जी महाराज का कहना था कि किसी की शुभ-अशुभ क्रिया को मत देखो परन्तु उसमें जो निर्दोष आत्म राम विराजमान है उसको देखो। गुण और अवगुण से शुभ और अशुभ संस्कार बनते हैं और इन्हीं के कारण जन्म होता है। इसलिए गुणातीत होना चाहिए। स्वामी जी का जन्म मार्च 19, 1919 को होशियारपुर (पंजाब) में पिता पण्डित घसीटाराम कालिया जी जो सिविल इन्जिनियर थे के घर में हुआ जो हर तरह से सम्पन्न परिवार था।

पाठकों से विनम्र निवदेन है कि अनमोल अमृत वचन नामक पुस्तक का अध्ययन व मनन करके अपने विचारों से हमें अवश्य अवगत कराने की कृपा करें, जिसके लिए हम आपके सदैव आभारी रहेंगे।

हर्षित, दीपित, प्रेरित करना यही शब्दों का काम,
पूर्वजों की धर्म की संज्ञायें यही सब सत् के नाम।
सन्मार्ग पै चलने के हेतु करना इन्हीं का ध्यान;
जगे विवेक, विचार से इनके, शम सुख मुक्ति निधान।।

विनम्र सेवक्
ज्ञान चन्द गर्ग

मार्च 19, 2017
अम्बाला शहर

ॐ परमात्मने नमः

स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज द्वारा प्रणीत धर्मग्रन्थों में से संकलित अनमोल अमृत वचन करने और उन्हें प्रकाशित करने का शुभ कार्य स्वामी जी के परमभक्तों डॉ० बृजेन्द्र नारायण माथुर तथा श्री ज्ञान चन्द गर्ग ने साधकों के हितार्थ किया है। इन अनमोल वचनों में आध्यात्मिक साधना के संबंध में पर्याप्त ज्ञान है। जो भी विचारवान् मानव इनका स्वाध्याय करेगा, उसे सच्चे धार्मिक पवित्र जीवन जीने की प्रेरणा मिलेगी और उसका मार्ग भी मिलेगा। महापुरुषों के वचन मानव कल्याण के लिए होते हैं। लेकिन इन वचनों का लाभ वही ले पाता है जो श्रद्धावान् है। श्रद्धा से साधना प्रारम्भ होती है और साधक को साधना-काल में भटकने नहीं देती। यह बात स्वामी जी ने अपने वचनों में अनेक बार कही है। स्वामी जी ने कहा है कि साधक को भगवान् में, उसके बताए हुए धर्म में और उस धर्म पर जो महात्मा चले हैं और जो चल रहे हैं उनमें पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए और आलस और प्रमाद त्यागकर साधना में संलग्न रहना चाहिए। धीरे-धीरे साधना में प्रीति होने लगती है और सुख मिलने लगता है, तब साधना सहज हो जाती है।

आध्यात्म विद्या प्रयोगात्मक है। विद्या अपने बारे में है। अपने-आप को समझने की, अपनी कमजोरियों को, अपने दोषों और अपने विकारों को पहचानने की और उन सब दोषों और विकारों से मुक्ति पाने के लिए जो बल अपेक्षित हैं उन्हें सजग रहकर प्रयत्नपूर्वक संग्रहीत करने के अभ्यास की यह कला है। यह आत्म-शोधन की कला है। आध्यात्मिक साधना का पहला लक्ष्य तो आत्म-शुद्धि ही है। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि मन में कौन-कौन से विकार हैं, जो उसके आचरण को संचालित करते हैं और उसके लिए अन्ततो, दुःख का, और अद्योगति का कारण बनते हैं। इस संबंध में स्वामी जी महाराज समझाते हैं कि केवल पुस्तक पढ़कर मन की अपनी दुर्बलताओं को नहीं समझ सकते। इन्हें तो स्वयं अपने मन में देखने का अभ्यास करना पड़ेगा। यही असली स्वाध्याय होगा।

साधक को दो क्रियायें करनी हैं: एक है क्रिया योग जिसे प्राणापान स्मृति स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में नाम दिया है। दूसरी क्रिया है ध्यान। इन दो क्रियाओं के अलावा दो क्रियायें और हैं जो साधना में बहुत महत्त्व रखती हैं, वे हैं नाम जप या सिमरन और प्रार्थना। इन चारों क्रियाओं का क्या स्वरूप है और ये कैसे करनी

चाहिएं और इनका साधना में क्या महत्त्व है – इन सब का विस्तृत विवेचन स्वामी जी के ग्रन्थों में और इन अमृत वचनों में मिलेगा।

धर्म ग्रन्थ और ज्ञानी महात्माओं के प्रवचन तो प्रेरणा देने और मार्ग दिखाने के लिए हैं। चलना तो स्वयं ही है। स्वामी जी के निम्नलिखित पद्य पर चिन्तन कीजिये और आध्यात्मिक साधना में लग जाइये :

आपहु किये बिना कछु बने नहीं बात,
दूजे के बताने से टूटे न घनी रात।
शुद्ध मन निज में ही सामर्थ्य पाये;
सूझने का सभी कुछ स्वयं सुझाये।।

विनीत
बाँके लाल शर्मा
कुरुक्षेत्र

विनम्र निवेदन

यह तो सभी धर्मों के प्रचारक, मनीषी व सन्त मानते हैं कि हम सब उस परमपिता परमेश्वर की सन्तान हैं, तथा इस प्रकार उस परम ब्रह्म का एक अंश सूक्ष्म रूप में प्रत्येक प्राणी में छुपा है, जिस पर माया का पर्दा डला होने से वह सहज ही में न तो प्राणी के देखने में आता है, न ही वह उसे समझ पाता है, तो ऐसे में मानव/प्राणी इस दिखाई पड़ने वाले भौतिक चोले को ही अपना स्वरुप समझ बैठता है तथा बाहरी संसार में ही सुख ढूँढता रहता है तथा उसी ओर लपकता है। बाह्य संसार के प्राणियों व पदार्थों का सुख चिरस्थायी न होने से वह फिर अन्य प्राणियों व पदार्थों की ओर अनन्त सुख की तलाश करने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देता है, जबकि वास्तविक सुख का स्त्रोत तो उसके अन्दर ही छुपा बैठा है। उसी से परिचय, घनिष्ठता तथा सामीप्य बढ़ाने का रास्ता सिखाना ही आध्यात्मिक जीवन का ध्येय है, ताकि मनुष्य को अपने-आप में ही वह परम व अनन्त सुख प्राप्त हो सके, जिसे पाने के लिए वह बाहर ही भटक रहा है।

यद्यपि बहुत से विचारकों के मत से मानव योनि दु:खों, अधर्म व पाप का चोला है, कारण कि मानव जीवन में बहुत-सी बुराइयाँ आ धमकती हैं जिससे मनुष्य का व्यवहार पशुओं से भी बद्तर देखनेमें आता है, पर "काँटे से ही काँटा निकलता है" वाली युक्ति के अनुसार, इस मानव चोले में ही ईश्वर प्राप्ति हो सकती है, जिसे ब्रह्मज्ञान, आत्मदर्शन, मोक्ष आदि अनेक नामों से कहा गया है। इसका कारण यह है कि केवल मनुष्य योनि में ही परमेश्वर ने उसे "विवेक" प्रदान किया, जिसके सही प्रयोग से ही वह सत्य व असत्य में भेद समझकर सम्यक् ज्ञान या प्रज्ञा ग्रहण कर अपने अंतिम ध्येय को प्राप्त कर सकता है। तो इस दृष्टिकोण से मानव जीवन एक अमूल्य उपलब्धि भी है, जो कि मनुष्य को अनेक योनियों में घूमने या भटकने के बाद प्राप्त होती है। साथ ही मात्र इसी योनि में विवेक द्वारा आध्यात्मिक जीवन यापन कर साधक जीते जी जीवन मुक्त हो सकता है, अर्थात् वह जीवित ही कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। उसके द्वारा किये गये कार्य उसे कर्मों में नहीं बाँधते। इस रूप में मनुष्य योनि का महत्व 'कर्म भूमि' के रूप में स्पष्ट रूप से भासित होता है, जबकि अन्य योनियाँ तो मात्र 'भोग योनियाँ' ही हैं, अर्थात् पूर्व के कर्मों को भोगने हेतु विभिन्न योनियाँ ही हैं।

इस प्रकार अच्छे कर्म करने का आधार खोजना परम आवश्यक हो जाता है। भारतीय संस्कृति में *शब्द* को ब्रह्म रूप में मान्यता दी गई है, फिर यदि ये *शब्द* (वचन) किसी महत्मा अथवा अवतारी पुरुष के होते हैं, तो मंत्र रूप से प्रभावशाली बन जाते हैं। यह वचन जिज्ञासु साधक को परम ध्येय या मोक्ष प्राप्ति हेतु आत्मशोधन करने की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। यह सभी दर्शन शास्त्री मानते हैं कि मनुष्य की सोच तथा दृष्टिकोण के अनुसार ही उसके कर्मों की पृष्ठभूमि बनती है। ''जैसी सोच वैसी कर्म की लोच'' अर्थात् अच्छी सोच से किये कर्म व उद्योग अच्छे फलदायक होते हैं। ऐसे में अच्छी सोच पैदा करने हेतु भाव, सत्संग से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। सत्संग से अर्थ सन्तों का संग अर्थात् या तो सच्चे महात्मा का प्रत्यक्ष संग या सामीप्य उपलब्ध हो जाये तो अति उत्तम है, वरना वही लाभ पूर्व में या हाल ही में हुए सच्चे महात्माओं के जीवन चरित तथा अमृत तुल्य वचनों से भी प्राप्त होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिये। परन्तु आज के माहौल में प्रथम तो सच्चा महात्मा खोजना ही दुर्लभ है, तथा यदि वह आपके पास ही रहते हों तथा आसानी से उनका परामर्श या आवश्यक निर्देशन प्राप्त हो सके ऐसा कठिन ही जान पड़ता है। इस विचार से इस संकलन का महत्व और भी बढ़ जाता है।

संसार में भला कौन ऐसा मनुष्य होगा जो सुख नहीं चाहेगा, फिर वह सुख जो सबसे उच्च कोटि का (परमसुख) हो तथा अनन्त (कभी समाप्त न होने वाला) भी हो। ऐसा सुख जो भौतिक साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता, वह किस प्रकार से साधक को प्राप्त हो सके, इसी की चर्चा उपदेशों के माध्यम रूप में यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस संकलन में वचनों के क्रम को भी साधक के मन में इस मार्ग पर चलने हेतु उठने वाले विचारों की श्रंखला के अनुरूप ही रखा गया है, अर्थात् उसके जीवन का अर्थ व उद्देश्य क्या है ? या यों कहो कि उसे ईश्वर ने मानव के रूप में इस संसार में क्यों भेजा है ? से प्रारम्भ होता हुआ, मानव योनि के महत्व पर प्रकाश डालता हुआ आगे बढ़ता है। फिर धीरे-धीरे उसकी समझ में थोड़ा-थोड़ा यह भी आने लगता है कि जिस परमसुख को वह बाहर प्राणियों व पदार्थों में खोज रहा है, वह तो उसे अंदर ही स्वाभाविक रूप में ईश्वर का अंश रूप, पहले से ही मौजूद है, तथा उसकी प्राप्ति हेतु बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं,

क्योंकि बाहर से प्राप्त सुख चिर स्थायी नहीं होते। अल्पकालीन होने के साथ अनेक शर्तों से बंधे होते हैं। यह समझ आते ही वह माया द्वारा प्रेरित संसार के बन्धनों का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता है, ताकि उसे उनसे छुटकारा पाने हेतु बलों का ज्ञान तथा उन्हें प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान भी प्राप्त हो सके। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना है कि यह सब तरुणावस्था तथा यौवनकाल से ही प्रारम्भ कर लेना है, इसके लिए प्रौढ़ावस्था अथवा वृद्धावस्था की प्रतीक्षा भी नहीं करनी है, कारण तब अपना जीवन-शोधन करना असम्भव ही है। दूसरी अनोखी बात यह भी देखने में आती है कि पूर्ण श्रद्धा, भक्ति व उद्योग द्वारा ईश्वर प्राप्ति की ओर साधक जब एक कदम चलता है, तो परमेश्वर अपने भक्त साधक का श्रम कम करने हेतु स्वयं दस कदम चलता है। तो इन्हीं भावनाओं से श्रद्धेय व पूजित स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज के दिये गये प्रवचनों तथा उनके द्वारा लिखी गई अनेक पुस्तकों में से चुन-चुन कर कुछ सुभाषित अनमोल वचनों को एक निश्चित क्रम में पिरोकर यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, साथ ही अनेक सम्बन्धित विषयों पर निर्देश रूप आवश्यक कुछ उपदेशों को 'विविध' नामक अध्याय से जोड़ा गया है, ताकि साधक अपनी सुविधानुसार उनसे लाभ उठा सके।

सच्चाई तो यह है कि स्वामी जी के सभी वचन, प्रवचन महत्वपूर्ण हैं तथा उनमें से कुछ का चयन करना एक चुनौतिपूर्ण कार्य था, सो मैं स्वामी जी व प्रबुद्ध भक्तों से इस संकलन में आई कमियों के लिए क्षमा माँगता हूँ। साथ ही जिज्ञासुओं से उनके पूर्व में प्रकाशित ग्रन्थों का पूर्णरूप से अध्ययन करके अपनी ज्ञान पिपासा शान्त करने की भी प्रार्थना करूँगा।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, तो अर्न्तमुखी होने पर भी उसका बाहर के संसार से सम्पर्क तथा व्यवहार भी आजीवन बना रहेगा। तो ऐसे में अपना व्यवहार विवेकपूर्ण तथा संयत ही रखना है। किसी का हित कर सको तो बहुत अच्छा पर किसी भी सूरत में बुरा नहीं करना। ''वासुदैव कुटुम्बकम'' को चरितार्थ करते हुए सम्यक् व आदर्श अनुशासित जीवन व्यतीत करते जाना है। इसके लिए संसार छोड़ कर जंगलों या पहाड़ों पर जाने की आवश्यकता भी नहीं है, केवल मन से संसार को निकालना ही पर्याप्त है, फिर कोई कठिनाई नहीं। साथ ही पूर्ण लगन से अपने अन्य उत्तरदायित्वों का पालन भी संसार में रहकर ही करते रहना है।

आध्यात्मिक जीवन यापन का एक अनोखा लाभ यह भी है कि हम अपनी जीवनयात्रा को एक आनंदित तरीके से तय करते हैं। इसको यों भी समझा जा सकता है कि मंजिल तक पहुँचने के प्रयास में यात्री अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच ही जायेगा, यह उसके बस के बाहर अन्य अनेक कारणों पर निर्भर करता है। पर इस यात्रा का आनंद लेना तो हमारी पहुँच में ही है, सो उसे प्राप्त कर स्वयं तो सुखी जीवन व्यतीत करें साथ ही सहयात्रियों को भी भरसक प्रसन्नता दें। बाकी सब ईश्वर तथा स्वामी जी पर छोड़ दें जिनके भरोसे तथा नियमानुसार चलने का प्रयास हम कर रहे हैं।

इस पुनीत कार्य में सदा की भाँति श्री ज्ञान चन्द गर्ग जी का पूर्ण सहयोग, प्रेरणा, प्रोत्साहन, मूल कृति में आवश्यक संशोधन आदि के रूप में प्राप्त हुआ है, सो मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त डा. बाँके लाल शर्मा जी ने भी जो स्वामी जी के विद्वान भक्त हैं इसमें कई सुधार कर निखारा है, सो उनका योगदान भी प्रशंसनीय है। मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। साथ ही मैं अपनी बहन, पुत्री के परिवार के सदस्यों तथा अपने परिवार वालों का ऋणी हूँ जिन्होंने विभिन्न प्रकार से इस महान कार्य में सहयोग प्रदान किया। ईश्वर व स्वामी उन पर कृपा बनाएं रखें।

अंत में मैं इस आशा के साथ भक्त समाज को इस पुस्तिका को अर्पण कर रहा हूँ वे मेरे द्वारा संकलित पूर्व ग्रन्थों की तरह मान्यता देकर मेरी इस सेवा को स्वीकार करेंगे। साथ ही स्वामी जी से कर-बद्ध यह भी प्रार्थना करता हूँ कि सत्य की खोज में निकले भक्त समाज पर अपनी असीम कृपा-सुमन बिखेरकर उनका पग-पग पर मार्ग प्रदर्शन करें तथा उन्हें मंजिल तक पहुँचा ही देवें। इन्हीं भावनाओं के साथ मैं भक्त समाज को विनम्र भाव से यह पुस्तिका भेंट करता हूँ।

19 मार्च, 2017 **डॉ० बृजेन्द्र नारायण माथुर**

अम्बाला शहर

खण्ड - 1

मानव जीवन का उच्चतम ध्येय अनंत परमसुख (मोक्ष) प्राप्ति आध्यात्मिक जीवनयापन से ही संभव

'Moksha' (liberation) the highest aim of life is achievable through leading a spiritual life.

(1)

आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को अपनी आत्मा के अन्दर जीने का रास्ता मिल जाए, जिससे उसका बाहर बिखरा हुआ मन, उसकी प्रवृतियाँ अन्तर्मुखी होकर, अन्दर एकत्रित हो जाएं।

(2)

इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने मन को संसार के सकल बन्धनों के जाल से मुक्त कराना होगा, यही बन्धनों से छूटना रूप-मुक्ति है, जिसे पा लेने से उसे नित्य सनातन सुख, सदा बना रहने वाले के रूप में प्राप्त होगा।

(3)

सारा राग-द्वेष का झगड़ा बाहर के जीवन का है, मनुष्य संसार की वस्तुओं तथा प्राणियों से ही सुख व भलाई समझता है, तथा उन सारहीन तथा अल्पकालीन सुखों को प्राप्त करने हेतु बड़ी से बड़ी कुर्बानी भी देने को तैयार हो जाता है।

(4)

भौतिक जीवन की जितनी भी व्याधियाँ और दुःख हैं, चाहे वे देह, मन या आत्मा के हों, इन सबको शान्त करने का अन्दर का एक उपाय है। वह उपाय है कि उस व्याधि, दुःख या विचार को मन में "घोंसला" न बनाने दे अर्थात् जो वस्तु जहाँ है, वहीं पर उसको पटक दे और पटक करके अपने मन से उसको उतार करके ऐसे भूल जाये कि जैसे हम कभी उस वस्तु को जानते ही नहीं थे।

(5)

जीवन के सत्य को पाने के लिए मनुष्य को अपनी विभिन्न कामनाओं को एकांत में ध्यान द्वारा पहचानना होगा, तभी सब रोगों के जड़ स्वरूप दस बन्धन उसकी समझ में आयेंगे। जिनके नाम (1) दृष्टि (2) संशय (3) शीलव्रत परामर्श (4) राग (5) द्वेष (6) रूप राग (7) अरुपराग (8) मान (9) मोह व (10) अविद्या हैं।

(6)

मन को बाहर से अन्दर इकट्ठा करने का यही रास्ता है कि वह मन को बाहर के सुख की ओर ले जाने वाले तृष्णा-रूपी कारण की जड़ को ही 'प्रज्ञा' अर्थात् सत्य ज्ञान द्वारा ही काट दे। प्रज्ञा वह ज्ञान है जो ध्यान की सूक्ष्मता, अर्थात् किसी विषय के बारे में बार-बार विचार करने से निचोड़ के रूप में अर्थात् ध्यान की सूक्ष्मता (बारीकी) से बुद्धि में प्रकट होता है।

(7)

सनातन (सदा बने रहने वाला) सुख को प्राप्त करने के लिए आप चुपचाप आध्यात्मिक जीवन पर चलते रहो और इसके बारे में किसी को भी खबर करने की भी आवश्यकता नहीं है कि मैं कैसे रहता हूँ? केवल अपने जीवन को कुछ नियमों में रखकर चलना पड़ता है, जैसे कि शास्त्रों में सद्गुरूओं द्वारा चला हुआ जीवन बताया गया है।

(8)

एक चेतन ही है, जो सब की देहों में बैठा हुआ सबका काम चला रहा है। यदि किसी ने उस चेतन को जान लिया और आनन्द भी अखण्ड रूप में (पूर्ण रूप से) उसको मिलने लग गया, तो यही आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है।

(9)

निर्वाण का अर्थ है 'बुझना'। दीपक के तेल की भाँति संसार की तृष्णा इस शरीर रूपी दीपक में तेल के समान जलती रहती है/प्रज्जवलित है। यदि सत्य ज्ञान से इस संसार को दु:ख रूप से साक्षात्कार कर लेने पर संसार की तृष्णा समाप्त हो जाए, तो पुन: संसार में जन्मने व होने का भाव हमेशा के लिए बुझ जायेगा व मन संसार बन्धन से मुक्त हो जाएगा। इसी का नाम निर्वाण है।

(10)

साधो ! मन विद्या को साधो,
छेदो तम सन्धि छेदों में।
संस्कारज विकार मिटाकर,
अनन्त ध्यान में शम सुख पाओ।।

(11)

सुमति पहचाने सब बन्धनों का जाल,
सर्व समय स्मृति युक्त, जाने इनका हाल।
सर्व कर्म करता हुआ करे परिहार,
शुद्धता का जीवन पाये, आत्मा का प्यार।।

(12)

इस जीवन में प्राप्त करने वाली वस्तु तो अन्दर बैठा प्रभु, सर्व-व्यापक, सबका अन्तर्यामी और एक रूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप भगवान् ही है जो कभी मरने वाला नहीं है। शेष संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे तो बिछुड़ने वाली, नष्ट होने वाली और अन्त में दुःख में समाप्त होने वाली हैं। इनका सुख सदा बने रहने वाला नहीं है।

(13)

प्रकृति का कार्य केवल बाहर ही कुछ न कुछ करने के लिए प्रेरित करना व बाहर संसार में ही जीवन दिखलाना है। पर आध्यात्मिक मनुष्य (अपनी आत्मा में जीवन देखने वाला) अपने-आप में रहना सीखे। इसके लिये उसे पहले प्रकृति (आदत की शक्ति) का विरोध करने का अल्प दुःख स्वीकार करना पड़ेगा।

(14)

साधक को चाहिये कि वह इस प्रकृति से निकलने का दुःख स्वीकार करले। फिर खाने, पीने, प्यारी वस्तु व निद्रा के वियोग की तंगी (दुःख) भी शनैः शनैः सहन हो सकेगी। जब प्रकृति का दुःख शान्त होने लगता है, तो उसी समय सुख भी मिलना शुरु होता है।

(15)

प्रकृति का विरोध करने पर जो दुःख होता है उसको बुद्धिपूर्वक सहन करते जाने से अन्दर के सत्यों का ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है और इसी ज्ञान के साथ-साथ सुख का भी अनुभव होगा जो समाप्त भी नहीं होगा। यह सब प्रकृति का बंधन, जिसका समाप्त हो जाए, वही मनुष्य मुक्त कहा जायेगा।

(16)

प्रकृति मनुष्य को अपने बंधन से मुक्त नहीं होने देती अर्थात् किसी भी कल्याण को प्राप्त करने वाले धर्म के मार्ग पर चलने नहीं देती है। ऐसे में धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रकृति-विरोध का जो भी दु:ख है उसको बुद्धिपूर्वक स्वीकार (सहन) कर लेना है। अल्प-अल्प (थोड़ा -थोड़ा) दु:ख सहन करना ही इस आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है।

(17)

मनुष्य को जन्म पाकर पाना तो परमपद (भगवान का साक्षात्कार करना) ही है। उसे पाने के हेतु प्रथम तो बाहर से मुक्ति पाना, उसके लिये प्रकृति के विरोध से उत्पन्न दु:ख को सहन करना। ऐसे में अपना व्यवहार सही रखना, मन खोटा नहीं होने देना, तथा प्रकृति की लपक में नहीं बहना, अर्थात् दूर रहना। इस तरीके से यदि आप तिल-तिल भी साधन करते गये, तो पहले दुर्गति से बच गए, फिर सुगति आई, और अन्त में परमपद की प्राप्ति हो जायेगी।

(18)

आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है – 'अपनी आत्मा में जीना'। इस जीवन को बनाने के लिये थोड़ी भावना करनी पड़ती है। जो समझ हमारी शक्ति के लिए है तथा बाहर की उलझनों से हटाकर अपनी अन्तरात्मा के सुख से मिलाने के लिए है, वह सच्चाई है और हमारा कर्तव्य भी है। इसी को धारण करना 'धर्म' कहलाता है। मनुष्य को सदा के लिए मन को शान्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह धर्म का मार्ग धारण करे। धर्म का जो रास्ता है, वही उस भगवान को पाने का है और जब उसे पा लिया, उसी समय मनुष्य को सुख, शान्ति व आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी।

(19)

मनुष्य का सबसे उत्तम लक्ष्य यही है कि जहाँ पर पहुँचकर उसके सब दु:ख टल जाएं और एक ऐसे सुख की प्राप्ति हो, जो एक बार मिलने पर बिछुड़े नहीं। प्रकृति की राह पर चलते रहने से अन्ततः बैर, विरोध, शंकाएं, भय आदि

विकार पैदा होने से, मनुष्य को सदा रहने वाला सुख नहीं मिल सकता, जो उसका मूल उद्देश्य है। तो अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रकृति की दासता से छुटकारा पाना होगा। प्रकृति के मजबूत फंदों से निकलने में तंगी (कष्ट) तो अवश्य आती है, जिसे उद्योग, धैर्य तथा सहनशीलता से झेलना पड़ता है, चाहे उसके लिए उसे सतत उद्योग (प्रयत्न) क्यों न करना पड़े।

(20)

आध्यात्मिक जीवन का मतलब है - आत्मा (अपना-आपा) के अन्दर का जीवन। अपनी आत्मा के अन्दर थोड़ा अपने-आप को समझ करके, भगवान् के विधान के अनुसार, गुण-अवगुण परख करके, अपनी करनी देखते हुए, खोटी आदतों तथा उनसे मिलने वाले अल्पकालीन सुखों का त्याग और ऐसे में थोड़ा कष्ट सहन करते हुए चलना है। बस! यदि इतनी बुद्धि जाग गई तो समझो! आप अंधेरे से निकलकर उजाले में आ गए हैं। जैसे-जैसे आप अन्दर के जीवन को समझते जायेंगे तो समझो! आत्मयोग हो गया अर्थात् अपने साथ जुड़ना हो गया।

(21)

इस सृष्टि में परमहित की वस्तु केवल ब्रह्म है, जिसे परमात्मा, भगवान् आदि अनेक नामों से जाना जाता है। वह अकेले (एकान्त) में ही वास करने में समझ तथा अनुभव में आता है। उस ब्रह्म में, परमात्मा में यह सारा संसार एक है तथा उस सारे संसार रूप की विभूति होने से वह ब्रह्म है। परन्तु जब तक उस ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तब तक उसके अन्दर वह आनन्द व प्रियता नहीं नजर आती, जिसमें बिना किसी निमित्त के भी उसका मन लग जाये। बचपन से बुढ़ापे तक इसी संसार के पदार्थों में तथा प्राणियों में अल्पकालीन सुख खोजता रहता है, तथा उन अल्पकालीन रूपी सुखों की पराधीनता में ही मृत्यु को प्राप्त होता है। परन्तु इसके इलावा एक और जीवन भी है जो भगवान् के साथ है व अनन्त है। वह कभी समाप्त भी नहीं होना जो शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित भी है, उसे अपनाने में ही कल्याण है। ब्रह्म का जीवन ज्ञान पूर्ण तथा अनन्त है तथा पूर्ण शुद्ध सुखरूप होने से वाछनीय है।

(22)

एक तो प्रकृति द्वारा दिया हुआ भौतिक जीवन है, जिसमें बच्चा पैदा होते ही दूसरे प्राणियों अथवा पदार्थों के सहारे ही जीवन जीता है, उन्हीं के साथ खुशी अनुभव करता है, तथा अकेले में उसको कोई जीवन नहीं दीखता। दूसरे प्रकार का आध्यात्मिक जीवन होता है,जो कि अपनी आत्मा (अपना-आपा) में चले जाने वाला (बसने वाला) जीवन होता है, इसमें प्रकृति के रास्ते को पहचानते हुए, उस भगवान् (परमेश्वर) के रास्ते को समझना है और उसको अपने ढंग से अपना लेना है। फिर जैसा करना चाहिए, यदि सोचकर उसे पूर्ण उचित रीति से कर लिया जाए, तो समझो! धर्म का रास्ता मिल गया। इनको समझने के लिए (अन्य ग्रन्थों में विस्तार से कहे गये) पाँच बलों: श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा की भक्ति करना आवश्यक है।

खण्ड - 2

मोक्ष प्राप्ति मानव योनि में ही अंतर्मुखी होने से ही संभव

'Attaining "Moksha" is only possible in human life through 'inner journey'

(1)

भगवान ने मनुष्य को ही विवेक या सही ज्ञान उपजाने की बुद्धि प्रदान की है, जिससे अविद्या टल सकती है। और किसी दूसरे जीव को यह बुद्धि नहीं दी गई है। मनुष्य ही अपने अन्त भले के बारे में सोच व समझ सकता है।

(2)

शोक, दुःख, रोग व व्याधियों से बचने का एक ही इलाज है कि बाहर संसार में भटकी हुई शक्ति वहाँ से बिछुड़कर मनुष्य के अन्दर इकट्ठी हो जाये। यह शक्ति अन्दर इकट्ठी होने पर ही अपना अनुभव दिखायेगी व कहेगी कि अब मेरे को पहचान कि "मैं कौन हूँ?अब आपको पता चलेगा कि इस देह का कार्य कौन चला रहा है? ऐसा वह व्यापक ज्ञान की शक्ति ही कर रही है जिसके बारे में पता ही नहीं लगता था। ज्ञानदेव ही ज्ञान-रूप से जैसे क्षण-क्षण नई-नई झाँकी दिखाता जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी माया शक्ति भी नई-नई तरंगें उत्पन्न करती रहती है। इस प्रकार से यही जीवों के अन्दर की ही विद्युत-शक्ति उस ज्ञानदेव की माया है।

(3)

मन की आदत बाहर संसार की ओर भागने की है। मन का संसार की तरफ भागना (भव तृष्णा) व संसार से थक कर नींद में चले जाना (विभव-तृष्णा), ये दोनों ही तृष्णा-रूप हैं। अन्तिम कल्याण के लिए इन्हीं दोनों तृष्णाओं को जीतना आवश्यक है। सत्य ज्ञान होने पर, मन में प्रेरणा भी मिल जायेगी कि इस संसार से हटना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को सारी विधि-मर्यादा अपने अन्दर समझकर उसके अनुसार ही जीवन को ढालना है। भगवान को पाने के लिए एक सीधा रास्ता यही है कि मनुष्य का बाहर संसार की उलझन से छुटकारा हो, जो अपनी आत्मा के अन्दर का ज्ञान और अपना अच्छा चला हुआ जीवन ही दिलाएगा।

(4)

बन्धनों से मुक्ति इसलिये नहीं मिलती है कि मन की लगन संसार की वस्तुओं की ओर है। अन्दर के सत्य, सतत् प्रयत्न करने पर विचार जगाने पर प्रगट हो

जायेंगे। ज्ञान होने से अविद्या नष्ट होगी। अविद्या (तृष्णा की माता) के समाप्त

होने पर ही परमेश्वर में टिकाव (स्थान) मिलता है।

(5)

बन्धनों से मुक्ति पाने हेतु मनुष्य को अपने अन्दर कई आवश्यक गुणों को धारण करना तथा उनका विकास करना होगा, जो प्रकृति के विकारों से विपरीत हैं जैसेः त्याग, तप, वैराग्य, क्षमा, सन्तोष, धैर्य आदि। इस प्रक्रिया में कष्ट भी अपेक्षित है, जिसे उस महान फल की प्राप्ति को ध्यान में रख कर सहज रूप से सहते जाना है।

(6)

जब अपने में न मरी, 'मैं मेरी',
दूसरों को भी बाँधे वह तेरी।
खोजे निज में न मिली जब वह कुछ;
तभी दूसरों में भी पाई वह तुच्छ।।

(7)

जग की वस्तुओं के संग पाया 'मैं' का भाव,
उनका हान होना ही है, कड़ा 'मैं' का घाव।
हुआ जो कुछ भी न प्रतीत, छुपा यही 'मैं' का भाव;
यही अविद्या मूल किया, जो प्रतीत अभाव।।

(8)

सुख व दुःख के संवेदन (महसूस करने) से हम बचपन से ही इस संसार में बंध गये हैं। जिधर सुख होता है उधर प्राण भी बड़े आराम से चलता है, इसी तरह जिससे दुःख होता है, उसी दुःख से मन में द्वेष और क्रोध होता है। यदि आपने अपने जीवन में कल्याण साधना है, तो अपने अन्दर यह ज्ञान जगायें कि क्या मेरे हित (भलाई) का है और क्या अहित (बुराई) का है? अर्थात् यह समझें कि मेरे जीवन के लिए अन्तिम कल्याण का मार्ग कौन-सा है, जो दुःख व पतन से भी बचाए? आवश्यकता थोड़ा विचार करके अपने अन्दर ज्ञान जगाने की है।

(9)

अपना हित साधना तो केवल मनुष्य जन्म में ही सम्भव है, कारण कि इसी में विवेक प्राप्त है, जिससे वह चिन्तन द्वारा अपने पीछे किये हुए कर्मों पर दृष्टि डालकर अपनी कुवृतियों व दोषों को पहचाने, तथा भविष्य में न दोहराने का पक्का इरादा बना ले। ऐसे ही अपनी भलाई के लिए दूसरे दिन भी ऐसा नहीं करने के बारे में पक्का इरादा बना ले कि कल भी मैं पूर्ण स्मृति या होश में रहूँगा। अपने को सही रूप से धारण करने का नाम ही धर्म है।

(10)

सत्य का ज्ञान पाने के लिए ध्यान ही रास्ता बनाएगा। इसके लिये भी वीर्य (हिम्मत) बनाने के लिए एक और दूसरी शक्ति भी चाहिये जिसका नाम स्मृति(होश) है, अर्थात् हर समय यह बोध रहे कि मुझे क्या करना है, कैसे जीवन में चलना है? यदि चेत रहेगी अर्थात् होश ठिकाने रहेगी तो मौक़े पर खोटे कर्म भी टाल सकेंगे और मनुष्य की दुष्कर्मों से भी रक्षा हो जायेगी।

(11)

मनुष्य स्वार्थवश बाह्य संसार में ऐसा बह जाता है कि उसकी ज्ञान शक्ति व प्राण शक्ति (क्रिया-शक्ति) दोनों उसके अन्दर शून्य जैसी हो जाती हैं, तथा उसकी आध्यात्मिक प्रगति में बन्धन बन जाती हैं। उन्हीं बंधनों से छूटने का नाम मुक्ति या परमपद प्राप्ति है। यदि आप आध्यात्मिक या शास्त्र की रीति से, जैसे ऋषि-मुनि इसका मार्ग बतला गए हैं, उसके अनुसार चलने का यत्न करेंगे, तो ऐसी बात नहीं है कि इन बन्धनों से छुटकारा न हो।

(12)

अपने अंदर की प्रकृति-शक्ति से छुट्टी पाने पर ही मन का बाहर भटकना बंद हो सकता है, तो ऐसे में देह और मन में भी सुख होगा। इसके लिए मनुष्य पहले श्रद्धा रखे, फिर हिम्मत करके उस प्रकृति को जीतने का रास्ता बनाए। सभी बुराइयों से हटते हुए और अच्छाईयाँ अपनाते हुए चले। ध्यान करते हुए अपना भला पहचाने, इससे उसे अपने-आप प्रेरणा भी मिलेगी कि यदि मेरा हित इन्हीं सब अच्छाइयों को अपनाने में है, तो इन्हीं को मैं जीवन में अपनाऊँ।

(13)

बालक ने संसार में पैदा होकर जैसे-जैसे प्राणियों तथा वस्तुओं को जाना पहचाना एवं समझा है यह उसकी दृष्टि का बंधन ही है। इसी दृष्टि रूप बंधन से बंधा हुआ प्राणी सुख-दु:ख हेतु कई प्रकार के कर्मों में और कई प्रकार के मन के भावों में बँधा रहकर कई प्रकार के कर्म करता है। इस मिथ्या दृष्टि के स्थान पर अच्छी(भली) दृष्टि, अर्थात् सबकी देह में बसे वासुदेव की दृष्टि करे, तो मिथ्या दृष्टि के सभी विकार अपने-आप शान्त हो जायेंगे।

(14)

सब कर्मों में स्मृति, हो जो सावधान,
चलते फिरते भी, करणों का रखे ध्यान।
हिम्मत कर अनुचित न, इन से होने दे;
भाँपे उत्पन्न विकार, क्रम से खोने दे।।

(15)

पहले अपना ही होगा, तुझे ज्ञान,
यही आत्मा की, पहली है पहचान।
सो प्रथम निज का ही, मिले यह तुझे ध्यान;
यही चढ़ कर चीने, सब कुछ व भगवान्।।

(16)

प्रकृति के बंधन को जीतने के लिए व उसकी दासता से मुक्ति पाने के लिए प्रत्येक कर्म में अपनी स्मृति बनाए रखें। रास्ता चलते-चलते यदि इन्द्रियाँ व्यर्थ के कर्म करती रहीं, तो मन को बाहर भटकाये रखेंगी। सो उन्हें हर समय अपने काबू में रखने का यत्न करना चाहिये।

(17)

स्वार्थ से ही मनुष्य इस संसार से बँधा हुआ है, जिसे गीता में काम (इच्छा) कहा है। साथ ही मनुष्य को कुछ बनने (विद्वान, धनवान, उच्च पद वाला आदि) में ही आनन्द आता है अर्थात् उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी का नाम भवसागर या भव-तृष्णा है। इसलिए वह समस्त जीवन इसी को प्राप्त करने में लगा रहता है। वह अकेले जीने की कला के आनंद से अनभिज्ञ रहकर

अपनी आत्मा में सुखपूर्वक जीने से वंचित रह जाता है।

(18)

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने अन्दर बैठे देव को पहचाने जो उसकी देह के सब कार्यों का संचालन कर रहा है ताकि उसकी अविद्या समाप्त हो जाए। अविद्या का अर्थ है आत्मा का ढक्कन या आवरण जिसके कारण वह देव अनुभव में नहीं आता। इसके लिए थोड़ा नींद व आलस्य को भी जीतना होगा।

(19)

बाहरी संसार में ही उलझे हुए मनुष्य को अपने अन्दर की कोई होश नहीं रहती है, उसे केवल दूसरों के संग से बाहर संसार में ही जीवन का सुख दिखता है। वह यह थोड़ा भी समझने का यत्न ही नहीं करता कि उसके भीतर बैठा सनातन देव ही अपनी शक्तियों द्वारा सारे संसार को चला रहा है। उन सब अन्दर की शक्तियों को समझने के लिए स्मृति ठिकाने रखनी पड़ेगी। फिर स्मृति को बनाए रखने के लिए और इसके अन्दर के देव को समझने हेतु स्मृति एवं वीर्य बनाये रखना पड़ेगा। यदि स्मृति ठिकाने रहेगी, तो बन्धनों की भी खबर पड़ती रहेगी।

(20)

अपने अन्दर का मन यदि सब प्रकार के क्लेशों और बन्धनों से मुक्त हो जाए, तो हल्का मन अपने-आप में प्रसाद (प्रसन्नता) और आनन्द का अनुभव करता है। यदि वह इस जगत् में बँधा रहे, तो उसकी प्राण-शक्ति और उसका मन (या ज्ञान) बाहर इतना भटक जाता है कि मन में शोक, तन में रोग बस! इसी का दुःख उसको बना रहता है। इसके लिए मनुष्य को हर समय स्मृति को ठिकाने पर रखना है। साथ ही ध्यान द्वारा यह भी समझना है कि सांसारिक सभी सुख अल्पकालीन हैं अर्थात् हमेशा बने नहीं रहेंगे।

(21)

निरुपाधि सुख तो भगवान् परमेश्वर का है। बाहर से उलझा हुआ मन यदि छुट्टी पा जाए और छुट्टी पाया हुआ मन उस प्राण-शक्ति के साथ एकत्रित (इकट्ठा) हो जाए, तो फिर जाग्रत अवस्था में जो सुख उसे प्राप्त होगा, वह

देव (भगवान्) का सुख है। इस सुख को पा करके मनुष्य कहेगा "बस भाई! जो पाना था सो पा लिया, अब मुझे कुछ भी जानने, करने व पाने की आवश्यकता नहीं हैं, संसार चाहे कुछ भी कहता रहे।"

(22)

मनुष्य जीवन की सफलता इसी में है कि उसे सच्चा आनंद प्राप्त हो जाए जो कभी बिछुडे नहीं। संसार के सुख किसी निमित्त से होने के कारण सदा बनें नहीं रहते। ऐसी वस्तु की प्राप्ति जो मनुष्य को अच्छी भी लगे और उससे कभी अलग भी न हो, वही वस्तु उसे संतुष्ट कर सकती है। इसी को ही शास्त्रकारों व ऋषियों ने "मोक्ष का आनंद या मुक्ति का सुख" कहा है।

(23)

साधक मनुष्य मन की खींच को अपने अन्दर ही पहचाने कि जिधर "मुझे यह मन सुख दिखलाकर ले जा रहा है, इसका अन्त क्या और कहाँ होगा?" बच्चे तो नहीं पहचान सकते, क्योंकि उनकी बुद्धि का इतना विकास अभी नहीं हुआ है। पर जो बड़ी आयु के हैं, उनसे भी प्रकृति की तरंगें उत्तेजित करके मिथ्या कर्म करवा जाती हैं। यदि आप मन की तरंगों के धक्कों के बीच सावधानी से टिके रहे, तो समझना वह भगवत-बुद्धि होगी। यह बुद्धि चाहे एक क्षण के लिए ही आपके अन्दर टिकी रही, तो यह बुद्धि उस समय का भगवान है।

(24)

आपहु किए बिना कछु बने नहीं बात,
दूजे के बताने से टूटे न घनी रात।
शुद्ध मन निज में ही सामर्थ्य स्वयं पाये,
सूझने का सभी कुछ स्वयं ही सुझाये ।।

(25)

जैसे नींद में बाह्य संसार के प्राणी व पदार्थों की सोच को भूलकर मन के साथ-साथ प्राण-शक्ति अन्दर आकर इकट्ठी होकर अपना सुख देती है, उसी प्रकार जागते-जागते भी बाहर के संसार को ठोकर मारकर मन व प्राण (जीवनी) शक्ति के अन्दर एकाग्र होने से सुख प्राप्त होता है।

(26)

परमपद को प्राप्त करने के लिए मुख्य आवश्यकता यह है कि बाहर भटका हुआ मन और इसकी बिखरी हुई शक्ति अपने-आप में एकत्रित कर ली जाय। बिखरे मन का मतलब है "बिखरा हुआ हमारा ज्ञान" और उस ज्ञान के पीछे-पीछे उसी का श्वास, जब तक यह बाहर इतने बिखरे हुए हैं, तब तक शरीर में थोथापन या खोखलापन, महसूस होता रहेगा। ऐसे मन में भी वह खोखलापन जो है, उसे शान्ति का अनुभव नहीं होने देता।

(27)

मनुष्य को चाहिये कि वह वाह्य जगत् में इतना ही लगाव रखे, जो जीवन-यापन के लिए तथा उसके उत्तरदायित्व (जिम्मेदारी) निभाने के लिए अनिवार्य है। व्यर्थ की इच्छाएँ पूर्ति करने में, फालतू खाने-पीने में, नशा करने में, फालतू संगत में, जो समय लगता है, उसे बचाकर एकान्त में बैठकर साधना में लगाए, प्राणापान-स्मृति में बैठे अर्थात् समझते हुए श्वास लेना और समझते हुए श्वास छोड़ने में समय लगाये। ऐसा करते-करते साधक अपने जीवन को चेताता जाए। ज्यों-ज्यों आप चेताते जायेंगे, त्यों-त्यों कुछ समझ भी आएगी। जब समझ आने लगे, तो समझो ! अन्दर अब बुद्धि जाग गई है। नित्य प्रति वैसा करने का अभ्यास करता रहे। गहराई में जाने से कई बन्धनों के कारणों का भी पता चलेगा तथा थोड़ा दुःख सहन करते हुए धीरे-धीरे सुख की प्राप्ति भी होनी प्रारम्भ हो जाएगी।

(28)

बिना मन के टिकाव के किसी को सुख नहीं मिलता। यदि मन विक्षिप्त (चंचल) रहे, तो किसी को भी अपनी अन्तरात्मा में सुख शान्ति का अनुभव नहीं होता। इसलिए मन का टिकाव, सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है। जो बाहर के प्राणी और पदार्थों से सम्बंध से होने वाला मन का टिकाव है, वह भी सदा किसी के लिए बना नहीं रहता और इससे अंत में रोग, शोक, दुःख ही हाथ लगते हैं। असली सुख तो वह है जो बाहरी पदार्थों व प्राणियों से हटकर मन के अपने-आप में टिक जाने से होता है, जो कभी भी

बिछुड़ेगा नहीं।

(29)

अन्तरात्मा की शक्ति जो बाहर भटकी हुई है, उसके अपने-आप में ही एकत्रित होने पर ही अन्तरात्मा में सुख व शान्ति मिलती है। इस शक्ति के बाहर बिखरने का कारण यह है कि मनुष्य को बचपन से लेकर ही जीवन धारण करने की आदत, तो बाहर के प्राणियों व पदार्थों के सहारे से ही पड़ी हुई है और उन्हीं के बीच में उसका मन उलझा रहता है, जिससे प्राण-शक्ति का नाश बाहर होता रहता है, और जितना नाश बाहर होता है, उतनी शक्ति अन्दर एकत्रित तो होती नहीं। यह अन्दर इकट्ठी तभी हो, जब मन बाहर से मुक्त हो।

(30)

जैसा भाव होता है, वैसी ही आगे की शक्ल (योनि) मिलती है। ये चौरासी लाख जीवों की विविध शक्लें जो हम संसार में देख रहे हैं, ये सब भावों के अनुसार ही तो हैं। यदि बुद्धिपूर्वक समझ के साथ अपने को सम्भालते हुए भगवद्-भक्ति में लगा हुआ जो मनुष्य अपना जीवन यापन करते हैं (मन, बुद्धि, देह व इन्द्रियों का उचित उपयोग) वे ही मनुष्य योनि प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

(31)

मन का जो प्रतिकूल (विपरीत) भाव प्रतीत (मालूम) होता है, उसी का नाम दु:ख है, जो मन को अच्छा नहीं लगता। यह प्रकृति वाला मन प्रतिकूलताओं से डरता है और चाहता है कि उसको जो प्रिय (प्रेय) है केवल वही मिलता रहे। इससे अनुकूलता की दासता बढ़ जाती है। अंत में मनचाही वस्तुओं को खोजते-खोजते स्वहित के अनुकूलों को भी प्रतिकूल बना लेता है।

(32)

इन्द्रियों को बाहर से मोड़ने (खींचने) को ही योगी लोग 'प्रत्याहार' कहते हैं। जिधर आपने अपना मन लगा दिया, अर्थात् मन लगाया कर्म में, तो सारी इन्द्रियाँ उसके पीछे अपने आप हो जाएंगी, वही प्रत्याहार है। मन को यदि आप किसी एक स्थान में लगा देंगे, तो वही ध्यान बन जायेगा। 'प्रत्याहार' का

तात्पर्य यह है कि "अपने सुख की आदत के मार्ग से किसी दूसरी जगह जब मन जा रहा है हो, तब उसको बाहर से मोड़कर अन्दर लाना।" प्रत्येक कार्य करते समय मन का भटकना, कर्म को विक्षिप्त कर देता है और उसे एकाग्रता पूर्वक नहीं होने देता।

(33)

जितना-जितना ज्ञान बाहर की उलझन से रहित होगा, उतना-उतना अपनी देह में एकत्रित होता जायेगा, और वह ज्ञान सत्य को पहचानने में सहायक होगा। इसीलिये गीता में भगवान् ने कहा कि भाई! निष्काम कर्मयोग सीखो अर्थात् कामना को निकालकर सारे कर्म करो। कामना निकलने पर ही अंदर का ज्ञान प्रकट होने लगता है। पहले ज्ञान होगा, फिर ईश्वर की क्रिया-शक्ति जागेगी, उससे बंधन टलते जायेंगे, अन्ततः उस आत्मा का अपना सहज या नित्य सुख प्रकट हो जायेगा, जिसको पाकर आप 'कृत-कृत्य' हो जाओगे।

(34)

अपने मनुष्य जीवन के मूल्य को प्रत्येक प्राणी को समझना चाहिये क्योंकि इसी में परमसुख (ब्रह्म-ज्ञान) की प्राप्ति हो सकती है। वही मनुष्य बुद्धिमान होता है, जो इस प्रकृति की अपने अन्दर उठती हुई लपक को पहचाने और उसके झटकों को समझे, तथा धैर्य रखता हुआ अपनी बुद्धि को शुद्ध रखे और खोटे कर्मों से बचता रहे, वही सच्चा कर्मयोगी होगा। इसके साथ-साथ संसार में दूसरों के दोष दिखने पर, अपने में भक्ति योग उत्पन्न करके उनके दोषों की ओर ध्यान न देकर सब में अपनी आत्मा के समान आत्मा ही समझे। यही ब्रह्म-भाव कहा जाता है।

(35)

नित्य सुख या परमानंद पाने के लिए मनुष्य को बाहर संसार से मन को हटाकर अर्न्तमुख होकर मन को पहचानने की योग्यता व युक्ति मिलनी चाहिये। यदि सारे बन्धन स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगें और उनको टालने की युक्ति और उद्योग भी उसके हाथ लग गया, तो यह ही उन बन्धनों से छुटकारा रूप मुक्ति होगी, जिसके अनुभव में आते ही परमानंद का अनुभव भी होने लगेगा। इस आनन्द के अनुभव होने पर सकल अन्दर की विद्याएँ, आत्मा-परमात्मा की

एकरूपता तक यह सब विद्याएँ स्वयं ही प्राप्त होने लग जायेंगी। इससे उसको अपने अन्दर परम सन्तुष्टि प्राप्त हो जायेगी तथा समयान्तर में परमानंद की प्राप्ति भी हो जायेगी।

(36)

जीवन को केवल अन्तर्मुख होकर ही पहचाना जाता है, तभी वासना विकार आदि समझ में आते हैं, तथा उन्हें जीतकर अच्छे कर्म करने की भावना बनती है। ऐसे में अच्छे कर्म करते हुए जो क्लेश (तंगी) हो उसे सहन करना होगा, वह आपकी तपस्या होगी, फिर समझ के साथ छोटे-मोटे सुखों को त्यागते जाना है। इस प्रकार त्यागी, तपस्वी और उच्चविचारों वाला जीवन बनेगा जो परमात्मा के रास्ते का उत्तम जीवन होगा जो आत्मा (अपना-आपा) के हित (भलाई) के लिये श्रेष्ठ है।

(37)

कल्याण का रास्ता तो यही है कि मनुष्य का केवल (बिना दूसरों के सहारे) अपने-आप में ही अकेले में मन रमने लग जाये। साथ ही ऐसी अवस्था में यदि वह अपने ध्यान में जुड़ जाता है, चिन्तन स्मरण करता है, अपनी आत्मा में ही सुख पाता है, तो समझो! वह अपनी मौज (अन्तरात्मा के संग प्रसन्न) में है। उसे मौत (मृत्यु) का भी डर नहीं रहता, कारण मृत्यु तो केवल बाहर का संसार ही छुड़ाती है, जो उसने जीते जी ही देख लिया है कि इस मृत्यु के आगे क्या है, क्योंकि ज्ञान रूप चेतन आत्मा तो भगवान् का ही आनंद रूप है उसे जान लिया है, जो कभी नहीं मरता। जैसा गीता में कहा है *"न जायते म्रियते वा कदाचित्"* अर्थात् यह आनन्द रूप आत्मा न कभी जन्मता है और न ही मरता है। इस साधना हेतु भगवान् का सहारा रखते हुए धर्म के रास्ते पर लगे रहना है।

(38)

मनुष्य को जो सर्वोच्च पाने की वस्तु है वह उसके अन्दर ही है, और वह उसको अपने पवित्र यत्नों (उद्योग) द्वारा प्राप्त भी कर सकता है, पर इसके लिये मन का अन्तर्मुख होना आवश्यक है। बाह्य संसार की बलशाली तरंगों के बहाव में न बह कर, अपनी बुद्धि को जगाये रखना, हित की बात समझते हुए अपने को सत्कर्मों की ओर लगाए रखना है। मन को खोटे कर्मों व गलत रास्ते जाने

से रोकने की सोच और फिर उसी के अनुसार कर्म करने की प्रकृति उत्पन्न करना। क्योंकि सोचकर निश्चय करने की शक्ति तो केवल मनुष्य में ही है, अन्य प्राणियों में नहीं। इस सोचने-समझने के गुण (विवेक) द्वारा वह अपने कल्याण का मार्ग (धर्म) खोज भी लेगा और उस पर चल भी सकेगा।

(39)

संसार से मन बिछुड़ने पर अंदर (अन्तर) जागता है, और वहाँ शान्त व निर्मल होकर आनंद पाता है। उस अवस्था में अचानक कुछ संसार जागने पर चित्र बनने शुरू हो जाते हैं। ध्यान करने वाले व्यक्ति को पता लगता है कि बाहर का संसार मिथ्या है और ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, जैसा वेदांत में वर्णित है अर्थात् जो कुछ है अन्दर ही है, बाहर कुछ भी नहीं है। यह तो स्वप्न की दृष्टि व सृष्टि है, यही सच्चिादानंद स्वरूप है। इसी के बीच में सारा संसार ही है। तो कौन वस्तु सत्य हुई ? यही मेरी आत्मा ही जोकि सब की परमात्मा रूप है।

(40)

संसार के दु:खों से मुक्ति पाकर सुख प्राप्ति केवल अपनी अन्तरात्मा में लौटने से ही मिल पाती है। पर यह भी तभी सम्भव है, जब आपको ध्यान का उपाय मिल जाए। ध्यान भी ऐसा होना चाहिए जो स्वाभाविक हो। ऐसा नहीं कि कभी तो ध्यान लग गया, कभी नहीं लगा। ध्यान ही एक ऐसा साधन है, जो बाहर से बिछोड़ा करके अपनी अन्तरात्मा के साथ आपका मेल या योग कराएगा।

(41)

धर्मानुसार चलने हेतु थोड़ा अपने-आप को संयम में रखते हुए अपने अन्दर के ज्ञान को समझते हुए अपने मन को सही दिशा में चेताने से सदा बना रहने वाला आनन्द प्राप्त हो जाता है, तथा मृत्यु का भी भय व चिन्ता नहीं रहती। पर इस मार्ग पर चलने हेतु थोड़ी विशेष ढंग की तैयारी भी करनी पड़ती है। एकान्त में आपको थोड़ी अपने अन्दर की खोज व अंदर की आँख खोलनी पड़ेगी। तो ऐसे में फिर सत्यों को पहचानना जिसके लिये बाहर से मन को धीरे-धीरे हटाकर, जाग्रत करना, उसके भड़कावों पर नजर व नियत्रंण रखना। इस सबके लिए थोड़ा ध्यान भी करना पड़ेगा।

(42)

मन बुद्धि भटकत रहे, इन्द्रियगण भ्रमाय।
करण समाधि थे चले, नींद आसन पै लुभाय।।

(43)

इच्छा, क्रोध, संशय, भय आदि बच्चे के अन्दर जन्म से ही साथ आते हैं तथा पूरी जिन्दगी (ही) उसके अन्दर ही रहते हैं और अपने स्वाभावनुकूल उसका जीवन चलाते हैं। पर ये आपकी आत्मा के धर्म न होकर आपके अन्तःकरण (मन) के धर्म हैं। इन भावों को पहचानते हुए व इनकी बाढ़ (बहाव) में न बहते हुए इनसे थोड़ा निकलने का यत्न रखें; तब वह आत्मा, जो कि सुन्दर, मुक्त व आनंद रूप है नजर में आयेगा। अपने मन में यदि ऐसे भाव बना करके अकेला मन में विचार करता रहे तो, समझो! अन्दर की विद्या मिल गई व साधक की आत्मा जाग गई। जैसा श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि "सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी शरण में आ जा", तो यह वही सच्चिदानंद रूप ज्योति ही वह शरण है, जो सब जगह ज्ञान-रूप से हर वस्तु को सही रूप से समझती हुई निर्लेप है। वही मेरा परमात्मा है। उसी की शरण लेनी है अर्थात् उसी पर दृष्टि रखनी है।

(44)

अन्तरात्मा की शांति प्राप्ति हेतु साधक जो भगवान् का भक्त है, थोड़ा तंगी (कष्ट) को सहन करके, इनका वेग (जोश) टालते हुए अपने-आप को ठंडा कर लेता है, तो उसके अंदर की आग तो बुझ ही जाती है, साथ ही उसे अंदर का जीवन भी मिल जाता है। 'अंदर के जीवन' से यहाँ तात्पर्य यही है, कि धर्म की शरण में आया साधक अन्तर्मुख होकर बाहर से अपने ध्यान को हटाकर इन्हीं सब अंदर के मन के विकारों को पहचानता हुआ इन्हीं को देखते-देखते इनसे लड़ते-लड़ते इनको टालता हुआ समय बिताता है। तो ऐसे में उसके लिये जीवन यापन कोई समस्या नहीं होती, चाहे वह अकेला भी रहे। बाहरी संसार से भी उसके सम्बन्ध सीमित व आवश्यक ही होते हैं, मन बहलाने हेतु नहीं। मुख्य करके वह अपनी अन्तरात्मा में ही मग्न रहता है।

(45)

मिथ्या दृष्टि से तात्पर्य है मनुष्य का अहित करने वाली दृष्टि (नज़र), जो देखने में तो भली लगती है, पर ठीक नहीं होती। जैसे कि प्राकृतिक मन अपनी दृष्टि में बाह्य देह, इन्द्रियादि से होने वाले सुख बसाये रखता है, और सदा उन्हीं की कामना व प्रतीक्षा करता है, जैसे स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, समाज तथा बहु प्रकार के बाह्य सामर्थ्य अधिकारों की इच्छा। उनकी दृष्टि से बंधा हुआ प्राणी कई प्रकार से प्रेरित होकर बाह्य संसार में कुछ-का-कुछ भी बिना अच्छा बुरा सोचे, मिथ्या (खोटे) कर्म करने पर उतारू हो जाता है। ऐसे में धीरज से भविष्य का हित सोचकर, अपने कर्मों का संचालन करना ही धर्म का मार्ग होगा।

(46)

ध्यान की पीठ पै आरोहण को, निज की करे पढ़ाई,
टाल बुरा, सब रखने को अच्छा या विधि होवे भलाई।।

(47)

क्षण-क्षण होवें संस्कार,
जगे चित्त की बहे जो सही धार।
मति शुद्ध स्मृति संग टिके बोध;
न हो प्रीति औ प्रमोद का अवरोध।।

(48)

पहले खोटे कर्मों से बचना, फिर थोड़ा भक्ति-भाव रख करके उससे बाहर के सुखों को अर्थात् विषयों के सुखों की तृष्णा को जीतने के लिए आवश्यक वीर्य बल उपजाना। यहाँ तात्पर्य यह है कि भगवान् ने जो सुख दे रखा है, उसी में सन्तुष्ट रहूँ तथा जो भगवान् ने नहीं दिया है, उसकी चाह भी न करूँ। यत्न से मन को सम्भाले रखना है, चाहे जप से, चाहे विचार से, चाहे मन में भगवान् का भाव बनाकर अर्थात् मन को हर हालत में ठंडा (शान्ति) रखना है, तो समझो!

शिवरात्रि हो गई। शिव नाम कल्याण का है, जो अनन्त सुख रूप है। उसी शिव की रात्रि (रात्रि नाम, अन्धकार तथा अज्ञान का है) से यहाँ अभिप्राय है कि आत्मा के उपर जो अन्धकार है, वह अज्ञान रूप है और बाहर जो अंधकार है वह है प्रकाश का विरोधी। मन ठंडा होने से दोनों प्रकार के अंधकार नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है। इसलिए व्यापक का मन ही बनाना है। पूर्वज के ऋषि लोग कहते थे कि जिनका चरित्र उदार है, खुले आम है, व्यापक है, मन खुला है, उनका तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब है।

(49)

परमपद की प्राप्ति के लिए आवश्यक है बिना प्रमाद के धर्म के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते रहना। प्रमाद से तात्पर्य है एक प्रकार की शिथिलता (ढिलाई) का! थोड़े मन के हर्ष के कारण उत्तम मार्ग पर चलने में बढ़-चढ़ कर ढिलाई करना। ध्यान के समय थोड़े हर्ष के कारण आलस्यादि में समय खोना। थोड़े दुःख के कारण आसन लगाने में भी ग्लानि मानना। छोटे-मोटे सुख व हर्ष के कारण खाने, पीने, सोने, जागने व त्याज्य योग्य के त्यागने तथा प्राप्त करने योग्य के प्राप्त करने में विलम्ब करते जाना, यह सब प्रमाद के दायरे में ही आते हैं। प्रमाद में और बहुत कल्याण विरोधी मिथ्या कर्म भी आ जाते हैं; जो केवल थोड़े सुख व हर्ष के कारण से किये जाते हैं। इन सब में होने वाला प्रमाद त्यागकर जन, धर्म मार्ग को प्रशस्त (चमकीला) बनाये।

(50)

सीधे-सीधे जुड़ने न दे,
व्यापक से छला हुआ मन।
उन्हीं से यह करे है प्रीत;
निहित या में हित विपरीत।।

(51)

घर इसका बने हैं संस्कार,
कड़वा, मीठा जो निखिल विकार।
मिले उन्हीं में मीठा 'मैं' का भाव;
जिसके मोह से न भावे है अभाव।।

खण्ड - 3

व्यापक ब्रह्म की समझ तथा उपासना

'Understanding and Worshipping Universal God

(1)

बाहर सारे संसार में चेतन व्यापक है, उसके प्रति ही अपना भाव बनाना है। इसके लिऐ दूसरों के सुख में सुखी होना है (मैत्री) और दूसरों के दुःख में दयाभाव रखना है (करुणा)। साथ ही दूसरे का अच्छा गुण पहचानकर उनकी प्रशंसा करनी है (मुदिता), और उनके अवगुणों, दोषों व पापों की अवहेलना (नज़रअंदाज) करनी है, अर्थात् उनको अपने ध्यान में बसाये नहीं रखना है (उपेक्षा)। साथ ही दूसरे के छोटे मोटे अपराधों के लिए भी क्षमा रखनी है।

(2)

अपना स्वार्थ ही संसार में ज्यादा चिन्तन (सोच) में डालता है, जो बाँधने वाला भी है। ऐसे में सर्वत्र एक ही दृष्टि (नज़र) रखनी है कि सभी के अन्दर वही चेतन है, जो मेरे अन्दर बैठा है, इस लिये मुझे मैत्री आदि सभी बलों से उसकी आराधना करनी है।

(3)

जब कोई मनुष्य हमारा बुरा नहीं करता है, तो हमें उसकी अच्छाई को ही देखना है। अगर वह कुछ बुरा भी करता है, तो भी उसकी उपेक्षा कर देनी है। इस प्रकार से दूसरों के साथ व्यवहार में यदि आप सही रह गये, तब आपको इस धर्म के रास्ते में चलने के लिये आराम मिलेगा और बल भी प्राप्त होगा।

(4)

इस संसार में सब सुख व शान्ति चाहते हैं। शान्ति को पाने का रास्ता ऋषियों मुनियों ने भी यही बताया है कि बिना निमित्त (शर्त) के मन बाहर से छूट जाए। इच्छापूर्ति, आदर मान, गौरव आदि छोटे-मोटे सुख तो बाहर के निमित्तों (शर्तों) से बँधे हैं, अर्थात् बाहर के कारणों से हैं। परंतु यदि बिना कारण के अपना मन शांत हो जाए तभी कल्याण है। इसका नाम ही निर्निमित, निरुपाधि यानि बिना किसी उपाधि या शर्त के सब विषयों से मन का शांत होना व परम सुख प्राप्त करना है।

(5)

मनुष्य को चाहिये कि वह इस व्यापक ब्रह्म को एक रूप में ही पहचाने तथा अपने व्यवहार को त्रुटि मुक्त बना ले। त्रुटियाँ दो कारणों से होती हैं : (1) सुख बिगड़ने पर या (2) दुख आ जाने पर। इसलिये उसे दु:ख व सुख में थोड़ा सम होकर रहने का अभ्यास करते रहना चाहिये।

(6)

यदि जीव अपने अन्दर ही उपाधि, अविद्या और उसके कार्य, मान, मोह, राग, द्वेष आदि बंधन और काम, क्रोध आदि सब विकार और इनकी सब दृष्टि को अपने अन्दर ही जानकर और दु:ख रूप समझकर इनसे छुटकारा भी पा ले, उद्योगी बने, थोड़ी निद्रा को भी जीते, तो अपने बंधनों से मुक्त होकर इसी के अन्दर शुद्ध, अनन्त, ज्ञान, विज्ञान रूप, शुद्ध आत्मा इसके एक रूप में प्रत्यक्ष सुख रूप से व्यक्त हो जाएगा, और यदि वह इसी आत्मा को सब जीवों में देखना व अनुभव करना आरम्भ कर दे, तो वही ज्ञान रूप आत्मा जो कि अपने अन्दर का ही है, उसी के समान सबके अन्दर शुद्ध व्यापक रूप दीखेगा। यही ब्रह्म-भाव है।

(7)

ज्यों-ज्यों मनुष्य सब में एक व्यापक को ही या परमात्मा को ही पहचानता जाता है, त्यों-त्यों अल्प भाव के बंधन से मुक्त होकर यानि छोटे जीव भाव से मुक्त होकर व्यापक या बड़ा भाव या विस्तार भाव को प्राप्त होता जाता है। यही ब्रह्म-भाव है। अन्ततः सब में जब एक ही भाव दीखने लग जाये, तो अल्पता (छोटेपन) से पूर्ण मुक्त होकर व्यापकता या पूर्ण ब्रह्म-भाव को प्राप्त होगा, तो सच्ची भक्ति प्राप्त होगी।

(8)

वहि: चर्या मलीन, बोले धर्म प्रवीण,
निन्दे कर्मों को चीन, नहीं जग बुद्धिहीन है।
हृदय स्वार्थ को बसाय, ता हित मत को तनाय;
व्यापक सत्य को न भाय, नया मत ही बनाय है।

होवे स्वार्थों का द्वन्द्व, करें सो जो पड़े फन्द;
नहिं सत्य को पसन्द, पावे खोटा या में छन्द है।
यामें भला, ताका मान, उसमें हो पुनः सत्य को स्थान;
सब इसी को सुन्दर जान, माने इस में ही कल्याण है।।

(9)

परम पिता परमेश्वर को शास्त्रों में आम समझने हेतु तीन शब्दों से जाना जाता है-ईश्वर, परमात्मा और भगवान्। एक ही बात है; नाम उनके अलग-अलग हैं। अपने व्यवहार में लाने हेतु इनको इस तरह से समझना पड़ेगा। दूसरों के अन्दर भी, सबके अन्दर वही परमात्मा रूप से बैठा है। ईश्वर (भगवान्) की ठीक भक्ति होने पर ज्ञान जाग जाता है और फिर क्रिया-शक्ति भी सक्रिय हो जाती है। देह के अन्दर वही विद्युत-शक्ति, वही उसका ज्ञान जो सबके अन्दर एक यन्त्र-रूप से सबके अन्दर भावों को बताता है; वह मेरे अन्दर ही नहीं है, अपितु पशु, पक्षी सब में है। यह उसका व्यापक विधान है। सबके अन्दर वह एक चेतन, ज्ञान रूप से और अपनी हरकत विद्युत-रूप से, वह क्रिया-शक्ति, जिसको माया कहते हैं, इन दो के साथ बैठा है, समझता है और समझकर अपनी विद्युत को प्रवाहित करके नाना प्रकार के प्रभाव दिखाता है। यदि ईश्वर आपके अन्दर आराम से बैठ गया और यह उतरते-उतरते यहाँ तक उतर आये कि आप सिरे तक सारे बन्धनों को पहचान लें और पहचानकर इनसे निकल जायें तो आप समझो, आप पूरे भगवान् के भक्त हो गए।

(10)

आपका यह कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार आप अपने परिवार की उपासना करते हैं, और उनके बारे में आपके सब भाव अच्छे होते हैं वैसे ही भक्ति के भाव आपके इस व्यापक भगवान् के परिवार के प्रति होने चाहिएँ। यही भगवान् के बल और गुण हैं जिन्हें अपनाकर आप उदार चरित्र वाले व्यक्ति बनेंगे, जिसे शास्त्रों में *"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"*, अर्थात् जो उदार-चरित्र वाले होते है उनके लिये सारी वसुधा (पृथ्वी) अर्थात् सब पृथ्वी पर बसने वाले प्राणी उनका परिवार होता है।

(11)

परिवार में तो कामना (स्वार्थ या इच्छा) की भक्ति है, पर जो प्राणी आपसे जुड़े हुए नहीं है, वहाँ की यदि भक्ति करनी है, तो आपको त्यागी बनना पड़ेगा अर्थात् निष्काम भक्त बनना होगा, अर्थात् प्रत्येक कर्म दुनियाबी फल की इच्छा को छोड़कर करना है। इस प्रकार मनुष्य को छोटे दायरे के जीवन से व्यापक जीवन में व्यापक रूप परमात्मा को पहचानने हेतु भगवान् के दस बलों (मैत्री, करुणा, उदिता, उपेक्षा, दान, शील, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा) की भक्ति करनी होती है, अर्थात् सम्पर्क में आने वाले सभी अपरिचित प्राणियों के भी प्रति अपने सब भाव अच्छे रखने हैं।

(12)

छोटे जीवन या छोटे दायरे वाले मन में पुरानी आदतों के अनुसार केवल अपने परिवार (सीमित जनों) के लिए त्याग या सेवा भाव आदि रहता है, पर दूसरों के लिए भाव की भक्ति भी नहीं और किसी किस्म की सहन-शक्ति व उनके प्रति मैत्री आदि भी नहीं होती। तो ऐसी अवस्था में मन में भगवान् की वह सच्ची मूर्ति भी नहीं बनती। जब यह छोटे दायरे वाले विचार आपको परेशान करें, तो आपको यत्न द्वारा तनाव को हटाते हुए उस बड़े दायरे के लिए भाव बनाओ। यदि ऐसा करते-करते भूल गये कि संसार कहाँ बस रहा है? तो समझो! एक सुन्दर भाव की चेतन मूर्ति बन गई, जिनका नाम कृष्ण, शिव-शंकर आदि है। जैसा अन्दर ज्ञान होगा, वैसी ही मूर्ति बनेगी, फिर वैसी ही शक्ति उपजेगी। इसलिए सब गुणों वाले भगवान् की मूर्ति अपने अन्दर बसानी है।

(13)

सार रूप में व्यापक जीवन-रूप भगवान् के दायरे की भक्ति का भावार्थ यही है कि इस परमात्मा के दायरे में सदा सुख बसा हुआ है और वहाँ दु:ख लेशमात्र भी नहीं है। चेतन (परमात्मा) सारे विश्व का विधान चला रहा है। वह सब के अन्दर बैठा सदा सनातन जी रहा है। यदि वह चेतन परमात्मा का दायरा मिल जाये, तो सबसे परिचय हो जाता है क्योंकि वह (साधक) सब में

एक आत्मा करके देखता है। फिर सारी पृथ्वी (वसुधा) ही उसका कुनबा बन जाता है। उसको किसी प्रकार का खेद, दु:ख कहीं भी नहीं है, न इस जीवन में न मरने के बाद।

(14)

जो कोई भी भक्त इस सत्य को पहचानकर सब को एक ही दृष्टि में रखे, अर्थात् सब ही में उसको (प्रभु को) देखता है, तो उसके लिए राग, द्वेष, मान, मोह आदि का बंधन नहीं रहता अर्थात् विकार रहित हो जाता है। तो ऐसे में उसका निर्मल हल्का मन उस शुद्ध ज्ञान रूप चेतन सब में सम एक रस ज्ञान रूप चैतन्य को आनन्द सहित अपने मन में ही अनुभव करेगा तथा साथ ही सबमें इसी को पहचानेगा। यही आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार है। यदि इस प्रकार इस व्यक्त भगवान की भक्ति यदि कोई ठीक ढंग से करले, तो उसका जीवन धर्म मार्ग पर चलने योग्य हो जाता है।

(15)

जो कुछ भी हमको सुख-दु:ख होता है, वह हमारे अन्दर से अपने ही ढंग से भगवान् व्यक्त (प्रकट) हो करके रचता है, और ऐसे ही दूसरे देहों के यन्त्रों को भी अपने ही ढंग से चलाता है, और हम अपने कर्मों का प्रतिफल (नतीजा) रूप में देखते हैं। इसलिये सुख-दु:ख का दाता दूसरा कोई नहीं, अपने अंदर बैठा हुआ भगवान् ही है। वह जैसा बाहर प्रकट होता है, दूसरा सामने वाला मनुष्य उस प्रकट होने वाले व्यक्त भगवान के अनुसार ही प्रभाव पैदा करेगा। इसलिये साधक अविद्या के चक्कर से निकलकर व्यक्त भगवान् में आराम (शरण) लेने की सोचे, व इस व्यक्त की ही भक्ति करे कि मेरे अन्दर से यह भगवान् इस तरह से प्रकट हो कि कम-से-कम मैं इस तरह का व्यवहार करूँ कि दूसरे से मेरे लिए खोटा तो न आये।

(16)

सबमें एक चेतन है। अपने नियमों से सब के उपर वह चेतन अपना प्रकाश प्रकट करता है और अपने ढंग से ही व्यक्त होता है। साथ ही यह ध्यान भी रखना है कि कोई भी मनुष्य संसार को पहले ठीक बनाकर अपने आप ठीक नहीं हो

सकता। यदि आप ठीक बन गये, तो समझो, आपके लिये सारा संसार ठीक बन गया क्योंकि संसार अपने-आप में कुछ नहीं है। संसार तो भगवान् के एक नियम अधिनियम व उसूलों के अनुसार ही चल रहा है। जिस तरह वह अव्यक्त भगवान् अंदर बैठा हुआ अपनी चेष्टाओं, दर्शन, वाणी, व भावों द्वारा व्यक्त (प्रगट) हो करके दूसरों के अंदर न चाहते हुए भी ऐसे प्रभाव उत्पन्न कर रहा है कि जिससे उसको विवश होकर वैसा ही करना पड़ता है। इस व्यक्त भगवान् की भक्ति का अभ्यास अपने अन्दर ध्यान उपजाकर किया जा सकता है।

(17)

आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि साधक व्यापक ब्रह्म को सब जगह उपस्थित व सबको देखने वाला समझकर पापों से हटे अर्थात् तृष्णा के विकारों से दूर रहे। ऐसे में बाहरी विषयों का सुख न मिलने के दुःख को भी अपने अन्दर (आत्मा में) सत्य की दृष्टि रखकर, टालते जाने का अभ्यास करते जाना है। इस तरह अभ्यास करने से मन अन्तरात्मा में एकत्रित होता जायेगा और बाहरी विषयों के सुख की ओर नहीं भटकेगा और जो शक्ति भटकी है वह भी अन्तर्मुख होने पर सत्यों को पहचानते रहने पर सुख रूप का अनुभव देगी। यही आत्मा के आनंदरूप का अनुभव है।

(18)

दो का भाव, दो पना (द्वैत भाव) को ही द्वैत कहते हैं। इसमें यह भाव है कि वस्तु-वस्तु में या प्राणी-प्राणी में भेद करना या भेद समझना, कि मैं न्यारा हूँ और वह न्यारा है। इस प्रकार जब दूसरा दुःख दे रहा हो, तो वह दुःख देने वाला हो गया, पर जब वह आप दुःख दे रहा हो, तो वह अपने-आप को दुःख देने वाला नहीं मानता। यह भेदभाव द्वैत का भाव है। यदि भगवान के न्याय के अनुसार समझें, तो वहाँ अपने आप को भी वैसा ही समझें, जैसे कि दूसरे को दुःख दाता समझता था अर्थात् द्वैत के भाव से रहित हो; परन्तु वह पक्षपात के कारण सुख-दुःख के अपने और पराये में भेदभाव कर रहा है। इसी का नाम

स्वार्थ है। यदि इसी स्वार्थ व सुख दुःख हेतु अपना पराया भाव से, कोई

साधक रहित हो जाए, तो पूर्ण अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे में वह साधक सब में एक ही आत्मा या सर्वव्यापक ब्रह्म ही पहचानेगा। उसमें कोई भी मित्र, शत्रु आदि का द्वैत भाव नहीं रहेगा।

(19)

अद्वैत का अर्थ है कि दो के भाव के रहित होना, अर्थात् जीव और परमात्मा में भेदभाव न देखना, न समझना। वैसे स्वभाव से ही जीव अपने सुख दु:ख के कारण सबमें भेदभाव देखता है। पर यदि वह दु:ख व सुख की अवस्था में सम रहे, दोनों को जैसे वे हैं उनको अपनी अवस्था में साक्षी भाव से देखता-देखता टालता जाए अर्थात् इन दोनों में समभाव से टिका रहे; जैसे कि कोई किसी से अपमान पाये, तो उस अपमान करने वाले के अन्दर अपनी आत्मा समझे। यदि वह अपने अपमान के दु:ख को शिवजी के विषपान के समान सह ले, तो उसे प्रतीत होगा कि अपमान करने वाले व अपमानित होने वाले में कोई भेद नहीं है। ऐसी मुक्त आत्मा को अद्वैत का अनुभव करते हुए, संसार के बंधन व द्वैत का दु:ख क्योंकर सतायेंगे। सारांश में परम अद्वैत का भाव है सब में एक ही चेतन समान रूप से अनुभव करना और भेदभाव न रखना, न देखना।

(20)

वानप्रस्थ यानि जंगल में रहने का सही मतलब (तात्पर्य) है, कि अपने मन के बीच में संसार का कोई भी खोटा शब्द (अंश) नहीं रहने पाये। मिथ्या सोच व खोटे कर्मों से थोड़ी छुट्टी पाकर यदि आप मैत्रादि भावों में खेलेंगे, तो समझो! आपका मन ज्ञान में खेलने लग गया। तो मनुष्य को चाहिये कि वह बाहर की सोच व पुन: मिथ्या रूप से बहाव को टालता हुआ, अपने-आप को अन्दर में झाँकता और पहचानता हुआ संयम में रखे। इस अन्तर की दृष्टि में ही उसका आनंद है। व्यापक भगवान् को पूजने का अर्थ है कि सब प्राणियों के प्रति करुणा, मैत्री, मुदिता आदि का भाव बनाना, ऐसा करते रहने से जीते जी मनुष्य को उस लोक की प्राप्ति होती है जिसे ज्ञानी 'बैकुन्ठ धाम' कहते हैं।

(21)

"जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" अर्थात् जैसे मनुष्य का अन्दर से बर्ताव आयेगा वैसी

ही छवि दूसरे के मन में छाप बनायेगी, और उसी के अनुसार दूसरे मनुष्य का आपके प्रति अच्छा या बुरा व्यवहार बनेगा। दूसरे के सुख में सुखी, दु:ख में दया-भाव, गुण देखना, अवगुण नहीं देखना तो समझो! आप सबके प्रति मीठे हो गये। साथ ही आप जब यह मिठास आप दूसरों के हृदय में भेजेंगे तो उधर से भी मिठास प्राप्त होगी। मन के मिथ्या काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को त्यागकर, यदि आप केवल भगवान को ही सर्वत्र देख पा रहे हो, तो आप ऐसी अवस्था में पहुँच जाएंगे कि यह संसार का रौनक मेला ही आपको भगवान् का "विष्णु धाम" ही लगने लगेगा, आप इसे छोड़कर मुक्ति की भी कामना नहीं करेंगे।

(22)

गीता में भगवान् ने सारे संसार को पेड़ के समान बताया है। जिस प्रकार पेड़ के पत्ते अलग-अलग दीखते हैं, पर अन्दर से सब जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार संसार के सारे जीवों के बीच में एक ही सर्वव्यापक परमात्मा है। तो ऐसे में कहीं से भी खोटा व्यवहार आए, उसकी उपेक्षा ही करके टालना है, उसके प्रति राग, क्रोध, द्वेष आदि नहीं करना है। ऐसा उद्योग (तप) करते-करते साधक को सब में सच्चिदानंद भगवान् का ही अनुभव होगा। ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा की अन्दर अनुभूति होने पर किसी प्रकार की मृत्यु का भय भी नहीं रहेगा। यदि ऐसी समझ बन जाये, तो समझो! आत्मज्ञान मिल गया।

(23)

चिन्ता, भय, द्वेष आदि विकार छोटे दायरे में रहने वाले प्राणी को होते हैं जो व्यापक भगवान् के दायरे से दूर हो गया हो। पर जो साधक, ध्यान, कीर्तन, जाप करके भगवान् को सामने रखते हुए अर्थात् समीप समझकर उद्योग करता है, तो उसे न कोई शोक होगा और न ही कोई इच्छा होगी। उसे वह ज्ञान होगा कि जो भी प्राणी है, सब चेतन रूप से एक ही हैं। अब वह प्राणी मेरी 'परे' की भक्ति को प्राप्त होगा। यह अनुभूति भक्ति योग से प्राप्त होती है। भगवान् की विभूतियों का ज्ञान होने से साधक के राग द्वेष आदि विकार भी टल जाते हैं, तथा एक दिन वह उस "सत्-चित्-आनन्द" को प्राप्त कर लेगा। यही मुक्ति है, यही मोक्ष है, यही परमात्मा से एक होना माना जाता है। यही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है।

खण्ड - 4

मृत्यु से पहले मरना तथा जीवन मुक्त कौन व कैसे ?
Dying before death and Jiwan mukta, Who and how ?

(1)

यदि ध्यान द्वारा साधक ने इस सत्य को पहचान लिया कि बाहर इन्द्रियों के सुख अल्पकालीन है, तो उसका मन इन्द्रियों के विषयों से मुड़ जाऐगा अर्थात् निवृत्त हो जायेगा तथा अन्दर की ओर आना आरम्भ हो जायेगा। इसका तात्पर्य है कि मन जाग गया है और उसके पीछे-पीछे प्राण-शक्ति के मुड़ने से ही शरीर में सुख होने लगता है, जिसे मुक्ति का सुख कहा गया है।

(2)

बिना किसी बाह्य निमित्त के यदि अपनी आत्मा में मन शान्त रहे, तो यह पूर्ण अवस्था ही निर्वाण का स्वरूप है। अत: बाहर जो कुछ भी बनना चाहे, उस सब का लोभ छोड़कर अपनी आत्मा का ही सहारा खोजे और साधक इस बाह्य धार्मिक, तपस्वी, त्यागी, भक्त, ध्यानी, ज्ञानीपने का भी मान न करे अर्थात् बाह्य जगत में "मैं" करके अपने आप को कुछ भी मान्यता (श्रेष्ठता का प्रदर्शन) ही न करे, चाहे दूसरे उसे कुछ भी बनाकर मान देते रहें।

(3)

मनुष्य को इस संसार का इतना भारी मोह है कि जिस समय कोई भी प्राणी मरने लगता है, तो उसको इस संसार से छूटने की इच्छा नहीं होती, अर्थात् वह इसमें ही अन्य प्राणियों व पदार्थों के बीच ही बसा रहना चाहता है। पर जो बिरले प्राणी इस संसार के जीवों से बिछुड़कर भी अपने-आप में अपनी आत्मा के ज्ञान को या अनुभव को रख लेता है, उसके लिए संसार की आवश्यकता नहीं रहती। यदि मन केवल आत्मा में ही अपने-आप को अनुभव करता हुआ स्थिर रहे, तो यह मुक्ति का पद है।

(4)

धार्मिक जीवन की पड़ताल करने वालों व धर्म के तत्वों को पहचानने वालों ने समझा है कि मृत्यु से इतना घबराने की आवश्कता नहीं हैं , क्योंकि सारे शास्त्र भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि "आत्मा अजर-अमर है, उसका नाश कभी नहीं होता।" गीता में भी कहा है कि *"न जायते म्रियते वा कदाचित् इत्यादि।"* अर्थात् यह आत्मा कभी उत्पन्न भी नहीं होता और मरता भी नहीं है। पर इतना पढ़ने-सुनने से ही मनुष्य को विश्वास नहीं होगा। जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष देख

ली जाती है तभी उसका विश्वास होता है। यदि जीवन रहते ही यह अनुभव हो जाए कि "ठीक है मैंने एक ऐसी अवस्था देख ली है, जहाँ पर संसार का नामोनिशान नहीं था, परन्तु मेरे अन्दर ज्ञान बिल्कुल पानी की तरह बह रहा है।

(5)

मरना यही है कि जीवन-काल में ही कामनाओं को त्याग देना और उसके फल को तुच्छ समझना व बाहर मन का कहीं भी उलझे न रहना। यही समझो, संसार में मर गये। जैसे इस संसार में मर गये, मन उधर नहीं रहा, फिर भी वह पहला प्रकृति का बन्धन अवश्य है। वह आदत से पुनः पुनः उधर बाहर संसार में ही मन को धकेलेगा। ऐसी अवस्था में बुद्धि जगाकर बाहर जीवन के सुखों या फलों को अल्पकालीन व तुच्छ समझते टालते जाना है। ऐसे जीवन यापन से मनुष्य मृत्यु से डरेगा नहीं।

(6)

जब तक मन को अंदर आनन्द रूप आत्मा की समझ नहीं होगी, तब तक उसे सच्चा व नित्य सुख नहीं मिलेगा तथा ऐसे में बाहर संसार में ही उसका प्रणियों व पदार्थों में चिपकाव बना रहेगा तथा वह उधर ही लपकेगा। संसार से बिछुड़ने का डर उसके लिए मृत्यु के समान ही है। इस लम्बे चौड़े संसार में ही फैले हुए मन को यह पता ही नहीं है कि मरते समय तो इस संसार से अवश्य बिछुड़ना ही है। परन्तु जिसने इस संसार से पहले ही ध्यान के मार्ग से बिछुड़कर अपनी आत्मा (अपना-आपा) में सुख पा लिया, तो उसको कोई शंका या भय नहीं रहेगा कि मरने के बाद क्या होगा ?

(7)

जब प्राणी अपना-आपा, बाहर से हटा लेता है, तो समझो! उसकी हरिहर की भक्ति पूर्ण हुई। जब बाहर से पूर्णरीति से बुझ (कट जाना) गया, तो ही निर्वाण मिलेगा। 'निर्वाण' नाम बुझने का है। आत्मा में पूर्ण 'स्थिरता (टिकाव) और आनन्दमय निर्विकल्प समाधि मिल जाने पर मन बाहर कुछ होने हवाने के लिए नहीं उछलता। जिसे साधना द्वारा बंधनों को त्यागकर मुक्ति मिल जाती है, वह कुटुम्ब, परिवार, समाज आदि की घटनाओं एवं प्रसंगों से अछूता रहता है, तो

ऐसे प्राणी को जीवन मुक्त कहते हैं, अर्थात् वह जीवित रहते हुए भी मुक्ति पा चुका है अर्थात् संसार से निर्लिप्त है। इसमें केवल ज्ञान, तप, त्याग की आवश्यकता होती है।

(8)

मन को भटकाने वाले यही हैं, कहीं काम, कहीं क्रोध, कहीं "मैं-मैं", "तू-तू", यही सारी मिथ्या दृष्टियाँ। जब मनुष्य इन सब भटकाने वाले तत्वों को दूर करके, अपने अन्दर ही सारे संसार की लीला देखता है, तो कहते हैं कि ऐसे में भक्त के सब कर्म भगवान् ही करता है। यदि आत्मा पवित्र हो गई तो वह प्राणी भगवान् ही है, अर्थात् उसके शरीर में ही प्रभु का मंदिर बन गया। उसी को भोग लगेगा तथा वह ही सारे कर्म करेगा, यही सच्ची पूजा होगी। ऐसी अवस्था में मनुष्य जीते जी मुक्त हो जाता है, अर्थात् उसे सब जगह सब में प्रभु ही बैठा दिखाई देता है। इसे ही *"आठों पहर बसन्त"* या *"सदा दीवाली साध की"* कहा जाता है।

(9)

यदि आपका अपना-आपा समझकर काम करने वाला हो गया, तो आपको यह संसार नाटक की तरह दिखेगा, तथा ऐसे में स्वयं एकांत में विशेषकर वृद्धावस्था में भी बैठे संतोष व तृप्ति का अनुभव करेंगे। जब सारे सत्यों का मनुष्य को अंदर ही ज्ञान होता है, तो उसे अंदर से ही इन बाहरी संसार के भड़कावों के चक्करों से लड़ने की सच्ची प्रेरणा मिलेगी, व इनसे मुक्ति पाकर अपने-आप में शान्त रहेगा। मुक्ति में साधक बंधन मुक्त शून्य मन में ज्ञान का दीपक जलाकर, एक अलौकिक आनन्द को पाता है। तो इस अवस्था में पहुँचे हुए प्राणी को जनमानस, सन्त, महर्षि, देव की संज्ञा देते हैं।

खण्ड - 5

संसार के दस बंधन
(Ten fetters of the World)

(1) दृष्टि बंधन (Belief in the permanence of body and person)

(2) संशय (Unfounded fears)

(3) शीलव्रत परामर्श (Undue Obligatory consideration for rules and conduct)

(4) राग (Attachment)

(5) द्वेष (Malice)

(6) रूप राग (Love for forms)

(7) अरुप राग (Desire of life in formless world)

(8) मोह (Delusion)

(9) मान (Ego/pride)

(10) अविद्या (Spiritual Ignorance or Nescience)

(1)

जैसे ही मनुष्य अपने स्वार्थ की किसी वस्तु को देखता है, या उसका ध्यान करता है, तो झटपट उसके मन में उसकी दृष्टि (नज़र) बन जाती है। यह 'दृष्टि' ही पहला बन्धन है। दृष्टि बनते ही सुख-रूप वस्तु को पाने की व दु:ख-रूप वस्तु को दूर हटाने के बारे में कई प्रकार के संशय खड़े हो जाते हैं। यही 'संशय' दूसरा बंधन है। फिर मनुष्य कर्त्तव्य सम्बन्धी सोचों के बंधन में पड़ जायेगा, कि "यह करना चाहिये था, यह नहीं करना चाहिये था, इत्यादि-इत्यादि।" यही तीसरा 'शील व्रत परामर्श' बन्धन है।

(2)

सांसारिक प्राणियों व पदार्थों के साथ प्रीति व लगाव होने से मन उधर ही सुख पाने के लिए उलझा रहता है, और मन से उनकी याद ही नहीं उतरती, यही 'राग बन्धन' है। इसी भाँति जिससे थोड़ा दु:ख प्राप्त होता है, उसके बारे में भी मन में ज़हर-सा चढ़ जाता है, और वह दु:ख देने वाला प्राणी व पदार्थ बहुत बुरा लगता है। ऐसे में मन चाहता है कि वह मेरे से दूर ही रहे। यह भाव भी मन को जकड़े रखता है। यही 'द्वेष बन्धन' है।

(3)

यही राग और द्वेष दोनों ही मन की अवस्थाएँ चित्त-रूप हैं। चित्त का अर्थ है कि वह चिन्तन (सोचने) की धारा, जो किसी एक ही विषय के बारे में अन्दर बहती रहती है। जब यह राग व द्वेष रूपी चिन्तन बहुत गहराई में अन्दर चला जाता है और इसकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर पाता, तो सुख के न मिलने से उसके लिए विलाप करने की अवस्था का नाम 'मोह चित्त' है। सोचे हुए के अनुसार जब कुछ भी न बन पाए, तो मन दु:खी होता है और इतने शोक में डूब जाता है कि उसको आस-पास की भी खबर नहीं रहती है। वह सोचता है कि "क्या करूँ, अब मेरे वश की बात नहीं है", यही 'मोह बन्धन' है।

(4)

संशय नाम सन्देह का है, जो दुविधा के भाव को उत्पन्न करके मन को उलझाये रखता है, और अपनी आत्मा में शांत होने का सुख नहीं होने देता। अतः इस दुविधा भाव (संशय को) को छोड़कर मनुष्य को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये। खाने, पीने, सोने, जागने और दूसरों से कई प्रकार के व्यवहारों में जो-जो संशय भाव उत्पन्न होता है, उसको विचार से, भजन द्वारा और त्याग द्वारा दुःख सहन करके ही समाप्त किया जा सकता है।

(5)

संसार में पैदा होकर प्राणी कई प्रकार के व्यवहारों को कर्त्तव्य करके समझता है व उनके द्वारा बने संस्कारों द्वारा बनाये गये व्यवहारों को न कर पाने पर व्यर्थ चिन्तन में पड़ा रहता है। इस प्रकार ऐसे विचारों में साधक समय को मिथ्या रूप से गंवाता रहता है। यह भी एक बड़ा बन्धन है, क्योंकि इस प्रकार के विचारों में खोया व्यक्ति दुःख या पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है कि जैसा धारण होना चाहिए था वैसा धारण नहीं हो सका और जो नहीं होना चाहिए था वैसे हुआ। यही सब शीलव्रत परामर्श बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति पाने के लिए साधक यह धारणा बनाये कि जो कुछ भी नासमझी में जो खोटा या मिथ्या कर्म हो गया है, उसके बारे में समझते हुए भविष्य में न करने के लिए यत्न करूँगा।

(6)

अपने-आप में कुछ बनने-बनाने की जो 'मैं' है, इस 'मैं' का दान कर दें या उसको त्याग दें या भगवान के ही अर्पण कर दें कि प्रभु यह "मैं" तेरी है। जो तू मेरे को समझ लेगा वो ही 'मैं' हूँ। दूसरे जो भी हमको कुछ समझें भले समझें, हम अपने-आप में कुछ भी न बनें केवल अपने भले के रास्ते पर चलना मात्र बनाये रखें।

(7)

छोटे मोटे दुःख से, न करें परहेज,
मन बुद्धि शुद्ध राखे, राखे बन्धेज।
वाणी व देहादि से, करे शुद्ध व्यवहार,
शक्ति और ज्ञान पावे, भय को दे विदार।।

(8)

मोह और मान का है, निकट निकट देश,
होती हुई-हुई वस्तुओं में शोक, मोहावेश।
जग में श्रेष्ठपना बताकर, और जतानी शान;
कुकृत्यों की चर्या संग, हर्ष उछाले मान।।

(9)

मोह में डूबा, मान से उछला, एक ही 'मैं' का भाव,
जन्म से, जग में मीठा पाकर, हुआ अधिक लगाव।
कभी हुये को सदा जो चाहे, क्यों दीखे भगवान्?
बहुतों में इक शाश्वत है, मैं का होना (यही) अस्मिमान।।

(10)

प्रकृति के बन्धन में जकड़ा हुआ मन एक बार जिस रास्ते पर चल गया वह उसी के बहाव में बहता रहता है। बस! यही बन्धन यदि टूट जाये, तो मन सब जगह से छूट करके, जैसे नींद में एकाग्र हुआ-हुआ आनंद सुख पाता है, ऐसे ही जागते-जागते वह सुख पा लेगा। इसके लिए सबसे उत्तम गति यही है कि बाहर ज्ञान और उसकी भटकी हुई क्रिया-शक्ति अपने-आप में एकत्रित हो जाये।

(11)

राग नाम प्रीति या प्रेम का है। जिन प्राणियों व पदार्थों के संग से सुख प्राप्त होता है उनमें मनुष्य को लगाव या प्रेम भी उत्पन्न हो जाता है। इन्हीं की याद मन में बहती रहती है और मन उन्हीं में चिपका रहता है, यही राग चित्त है। उन्हीं प्राणियों व पदार्थों से संयोग करने की इच्छा और लोभ के कारण प्राणी से कई प्रकार के दुष्कर्म भी हो जाते हैं तथा वैसे ही उसके संस्कार भी उस मनुष्य में एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार इन सब कर्मों में और उसके विचारों में और इन्हीं के अनुसार जितने भाव हैं, उनमें मनुष्य बुरी प्रकार से बंधा रहता है। यह सब राग बन्धन की लीला है।

(12)

हर्ष को कुछ अल्प रखके, करे युक्त संग,
उदास सही होगा, मन थोड़ा होगा भंग।
थोड़ा सा यह दु:ख भव भेषज बन जाय,
ध्यान, ज्ञान द्वारा बड़े दु:ख से बचाय।।

(13)

द्वेष नाम है अप्रीति का, इसका अर्थ है कि जैसे सुख वाली वस्तु में प्रीति या राग होता है ऐसे ही दु:ख वाली वस्तु में अप्रीति या द्वेष होता है। द्वेष को मिटाने के लिए मैत्री की भावना रखनी पड़ती है, यही समर्थ उपाय है। क्षमा का बल भी द्वेष निवृति के लिए समर्थ तरीका है। इसी प्रकार अपने आपे का त्याग या खुदी का त्याग सब द्वेष की निवृति के लिए है। द्वेष की निवृत्ति के लिए राग रूपी बन्धन की निवृत्ति करना भी आवश्यक है। द्वेष की निवृत्ति से ही परमसुख का मार्ग प्राप्त (शुद्ध) होता है।

(14)

रूप नाम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थों का है और पदार्थों के सहारे जो साधक का मन रमण करता है, सो रूप रागी उस साधक का मन है। अपनी आत्मा को 'मैं' समझने वाला इसी रूप-राग से बंधा रहता है। इससे मुक्ति पाने के लिए साधक को इन सुनने, छूने, देखने आदि के विषयों से विरक्त होकर और उद्योग करके शून्य अवस्था की शांति तक पहुँचने के लिए काफी उद्योग करना पड़ता है। एकान्त की चर्या इसके लिये परमावश्यक है।

(15)

जो मिथ्या ध्यान आपको पूर्व में पाये हुए सुख के बारे में सोचने के लिये बाध्य कर रहा है, वह राग-चित्त कहा जाता है। मन की दृष्टि उसी पूर्व में भोगे सुखों पर टिकने से इसे 'दृष्टि बन्धन' का नाम भी दिया है। दृष्टि बनते ही उसकी स्मृति (याद) मन में आती है और यह याद उसी सुख की ओर ही बहती रहती है, यही मन का भटकना है। पर यदि इस मन को आपने चेतन कर लिया, तो अंदर जो ज्ञान है वह प्रकट हो जायेगा, अर्थात् वह ज्योति, जो प्रकृति ने दबा

रखी है, प्रकट हो जायेगी।

(16)

जिस मन में शंकाएँ, राग, द्वेष व मान आदि का बन्धन रहेगा, वह कितना भी जप करता रहे, उसका मन उधर ही जाएगा। अत्यन्त निर्निमित्त (बिना किसी कारण व शर्त के) यदि किसी ने अपने मन को निवृत्त करना है, तो सत्य का ज्ञान अपने अन्दर मन से बोल-बोलकर उत्पन्न करे कि "वहाँ क्या रखा है", जहाँ पर, हे मना! तू जाना या कुछ प्राप्त करना चाहता है, वहाँ पर तो थोड़ी देर रहने वाला सुख अन्त में बड़े भारी दु:ख में समाप्त होने वाला है। मन की निवृत्ति सत्य ज्ञान के अनुभव अथवा प्राप्ति पर ही होती है। यह सत्य ज्ञान आपकी मिथ्या दृष्टि का बन्धन काट देता है और मिथ्या मतियों को भी समाप्त कर देता है।

(17)

जो संसार के प्राणी व पदार्थों से सुख होता है, उस सुख में मन रंगा हुआ उसकी याद को अपने-आप में भुलाना नहीं चाहता। यही मोह बन्धन है, जो स्मृति और बुद्धि दोनों ही के नाश का हेतु (कारण) है। इससे छूटने के लिए ज्ञान, ध्यान तथा अभ्यास के बलों का प्रयोग करके मनुष्य सत्य को समझकर मन को प्रेरित करके अपने वर्तमान के कर्त्तव्यों का सुचारू रूप से साहस के साथ पालन करे।

(18)

मोह के बन्धन के निवारण के लिये साक्षी भाव अपनाना होगा अर्थात् अपने-आप को केवल द्रष्टा (देखने वाला) समझते हुए सभी बन्धनों को क्षण-क्षण टालते जाना। ऐसा करने से कुछ समय बाद अपनी आत्मा का आनन्द स्वरूप प्रकट हो जाएगा तथा मोह का सारा जाल मन से उजड़ जाएगा तथा मोक्ष का रास्ता साफ होगा।

(19)

जब तक मनुष्य का मन अविद्या से छुपा (ढका) हुआ है, उसे सच्चाई का ज्ञान नहीं होता। सच्चाई का साक्षात्कार न होने से उसका संसार में ही लपक

(लालसा) बनी रहेगी। अविद्या जड़ से नष्ट तो आत्मा–परामात्मा के ज्ञान से ही होगी। केवल अनन्त परमेश्वर को प्राप्त करने के पश्चात् ही मन में कोई दूसरी इच्छा नहीं रहती। वहाँ पहुँचने के लिए मन को इतना सबल (या तीक्ष्ण) बनाना पड़ता है कि वह प्रकृति के विछोह के थोड़े दु:ख को क्षण–क्षण साक्षी भाव से देखता हुआ ही टालता जाये।

(20)

प्रकृति दु:ख प्रकट करके बाहर के सुख की याद दिलाकर उस सुख की खोज़ करने के लिये बाहर की ओर धक्का लगाती है, यही अविद्या है। इसके पश्चात् राग, द्वेष और फिर काम, क्रोध की जोर की तरंगें शरीर और मन को भी उधर ही चलाती हैं। यह सब प्रकृति का खेल तभी समझ में आयेगा जब आपकी अन्दर की आँख, बुद्धि–रूप ज्ञान द्वारा खुल जाये। बुद्धि–रूप ज्ञान का मतलब है कि विचार करके सत्य को समझना।

(21)

मान रूपी बंधन, व्यक्ति को 'मैं' रूप से बाँधता है तथा यही परमात्मा में भेदभाव का कारण है। इसी को साधन, ध्यान और ज्ञान द्वारा समाप्त करके यदि एक परम तत्व परमात्मा ही सब स्थानों पर दृष्टि में आये, तो राग, द्वेष और उनसे होने वाले कई प्रकार के कर्म और उनसे, उनका फल स्वरूप सुख दु:ख से जीव रहित हो जाएगा अर्थात् इस मान से मुक्ति हो जायेगी। मुक्त अवस्था में इसी चेतन रूप व्यापक ब्रह्म का आनंद प्रकट या व्यक्त होकर साधक को अपने–आप में शान्त रखेगा।

(22)

क्यों सुखों का लादा इतना भार,
या से हुआ बहु दु:खों से भी ख्वार।
अब खोटी मातियाँ जनावे हैं ये;
और इरादे मिथ्या उपजावे हैं वे।।

(23)

शंका, भय से तर्दित तू हर दम,
काम क्रोध भी न होने दे शम।
ईर्ष्या, मत्सर, असूयादि विकार;
संग अधीरता पाने न दे पार।।

(24)

और भी बहु मन में पेलें दण्ड,
अलौकिक भले को समझे पाखण्ड।
जग में किसी की शर्म न लाज;
स्वहित ही करावे सारे काज।।

(25)

धर्म कर्म की आने न दे याद,
ध्यान पथ को यह करदे बरबाद।
मिथ्या यादों में रुला रहे मन;
ध्यान बिचरे केवल कामों के वन।।

(26)

लहरी माला के समान, बहता जाये विज्ञान,
क्षण क्षण टलता जाए स्वयं अज्ञान,
क्षण से परे टिके नहीं बन्धन व भाव;
आसन पै ही, धीर देखे दुःख का अभाव।।

(27)

मनुष्य अन्दर के जो अवगुण या विकार हैं, जो उसके हित को बिगाड़ने वाले बन्धन स्वरूप हैं, अन्दर खूब गहराई में छिपे रहते हैं। इनकी दो अवस्थाएं हैं : एक तो चित्त में, जो बहुत बारीकी में हैं, दूसरी मन में, जो उपर-उपर हैं। राग, द्वेष तथा मोह यह चित्त के विकार हैं। मन अपने ढंग से ही अपने बाहर की इच्छाओं को रचता रहता है, जिससे काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं।

(28)

बंधनों को पैदा करने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रूप में बैठी हुई एक और शक्ति है जिसका नाम है अविद्या, जिसके कारण मनुष्य बाह्य संसार में ही बना रहना चाहता है। यह अविद्या हर समय कुछ न कुछ जानने के लिए मनुष्य को तंग करती है, इसमें जीवन को जानने की लपक है। इसी अविद्या के कारण से तथा राग-चित्त, द्वेष-चित्त व मोह-चित्त के कारण से दृष्टि सुख की प्राप्ति हेतु खोजने को बाहर भागती है।

(29)

सुख की वस्तु की खोज में जितनी दृष्टियाँ बाहर जाती हैं और जो इन्द्रियों को सब प्रकार से बहिर्मुख बनाता है, वह मन ही है। जो हर समय सोचता रहता है कि हमारे स्वार्थ की वस्तुएं कहाँ-कहाँ उपस्थित हैं। इसी क्रम में संशय, भय तथा मान बन्धन हैं, जो साधक को स्वार्थ सिद्धि के लिये बाँधे रखते हैं।

(30)

अविद्या वह शक्ति है, जोकि शुद्ध ज्ञान स्वरूप चेतन जो सर्व देहों में और सर्व जगत् में समान रूप से बस रहा है, उसको ढाँकती है। साधन करते हुए को अविद्या का परिवार राग, द्वेष आदि आत्म-साक्षात्कार में विघ्न डालता है। अतः अविद्या को मूल से नष्ट करने के लिये सबसे पहले सब बन्धनों को एक-एक करके समाप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।

(31)

मनुष्य अपने अन्दर के बन्धनों को पहचानने व उनसे मुक्त होने के प्रयत्नों में ज्ञान को जगाते समय स्वयं इतना जाग्रत रहना है कि आलस्य, सुस्ती के क्षणों में भी प्रकृति उस पर पुनः सवार न हो सके। आलस्य, निद्रा जब घेरती है, तो मन सोने के अलावा और कुछ नहीं करना चाहता। ऐसे में मनुष्य मन को निद्रा के सुख को छोड़ने के लिए समझाता हुआ, क्षण-क्षण निद्रा को टालता हुआ जागता रहे अर्थात् निद्रा आना भी चाहे, तो भी साधक उसको ग्रहण करने के लिए तैयार न हो। यही मन को जगाने का मार्ग है। साथ ही ऐसे में साधक का यही कर्तव्य है कि जिस भी कारण से मन बाहर की ओर झुकने या भागने लगे,

तो उसकी सत्यता पर विचार करने लग जाए। ऐसा करने से उन सब वस्तुओं

की अच्छाई, जोकि संस्कार-वश मन पर पड़ी हुई थी, मन से उतर जायेगी।

(32)

मनुष्य को उलझन में डालने वाले बंधन-दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि हैं। इन सब बंधनों को एक-एक करके अपने अंदर जागते मन में देखे तथा इनके बुरे प्रभावों को समझने से, यह धीरे-धीरे झड़ जायेगे। साथ ही मनुष्य प्रयत्न करके संसार की आसक्ति (तृष्णा) से भी थोड़ा पीछे हटे अर्थात् संसार में सुख के भाव से भी थोड़ी मुक्ति पाये और साथ ही निद्रा के सुख से भी थोड़ा-सा किनारा करे क्योंकि नींद पर काबू पाकर ही अन्दर ज्ञान को जगाना है।

(33)

क्या-क्या कर्त्तव्य सोचे, संशयों का जाल,
जो न जग में कोई, दृष्टि देखे उनकी चाल।
चाहा सब मिलता नहीं, क्यों सोच को दौड़ाये,
अविद्या की गहरी रात में, दुःख जन को जा बसाये।।

(34)

करणों को स्व-स्व विषय राखने की लाग,
इससे परे अनन्त में बसने का भी है राग।
जग से विरक्त मन कभी इनमें भी जा रमाय,
इससे परे उठा जो मन जो सत्व से छुड़ाय।।

(35)

'है' करके कछु वस्तु नहीं; है ज्ञान का ही स्पन्द,
फिर भी इसी में धँस रहा, 'है - है' का बड़ा फन्द'।
सब बंधनों के जाल बँधे, दुःख में अधीर;
प्रबोध से हो मुक्त, धीर वेदना में वीर।।

(36)

जो मनुष्य हिम्मत करके थोड़ा काम (इच्छा) को भी टाल सके और उस हेतु अपने सुख का भी त्याग कर सके, तो ऐसा व्यक्ति सिंह-पुरुष होता है, जिस पर "यह दुर्गा भगवती रूपी प्रकृति" बैठती है। इसलिये उस 'दुर्गा' (जहाँ

पहुँचना दुर्गम है) को वश में करने के लिए कठोर अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है जो स्मृति व वीर्य के बल से ही सम्भव है। इसलिये पहले अपने मन में इस स्मृति, क्षमा और श्रद्धा रूप भगवती शक्ति को बसाओ। यही मन की शक्ति रूप जो भगवती है, सर्व विश्व-व्यापक है, कहीं एक तेरे-मेरे में थोड़े ही है।

(37)

स्थिर जो न रहने का कभी, उसको बनाने से क्या,
जैसे भी जो दिन बीत गया, उसे याद में लाने से क्या।

(38)

किसी आकर्षक वस्तु को देखकर मन में उसे पाने की इच्छा स्वतः ही उठ जाती है। यदि साधक जागते-जागते ज्ञान जगाकर और इच्छापूर्ति के बाद के दुःख को ज्ञान-दृष्टि से देखकर इस इच्छा को टाल देता है, तो उसे अपने मन में शान्ति (ठण्डक) मिल जायेगी, जो मुक्ति का ही सुख रूप है। इसी प्रकार मान-अपमान, राग-द्वेष आदि को भी साक्षी भाव से देखते हुए, उससे उत्पन्न तंगी (दुःख) क्लेश व निद्रा को भी धैर्य से ध्यान में स्थिर रहकर सहते जाना है। ऐसा करने से आपको परमानंद का सुख प्राप्त होगा।

(39)

वस्तु के स्वरूप को ढकने वाली शक्ति को अविद्या या अज्ञान (ज्ञान के विपरीत शक्ति) कहते हैं। इसी अविद्या के कारण से ही मोह, मान, राग, द्वेष, संशय आदि सब बाँधने वाले बंधन, मनुष्य को बहुत पीड़ित करते हैं, कारण यह धार्मिक जन की आत्मा को ढके रखती है। तो ऐसे में साधन द्वारा अपने-आप में इन बंधनों को पहचानकर छोड़ने के लिए साधक का उत्साहित होना और अन्त में अविद्या रूपी बन्धन को भी छोड़ देना, यही मुक्ति रूप परमपद की प्राप्ति है। अविद्या टलते ही यह समझ में आ जायेगा कि सबके अन्दर सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा ही है। यही ब्रह्म प्राप्ति है।

(40)

बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये व भगवान् की भक्ति करने के लिए सुखों को थोड़ा त्यागना पड़ता है, तथा कष्टों में से भी गुजरना पड़ता है। ऐसे में तंगी

(कष्ट) सहन करते-करते सारे भगवान् के गुणों को अपनाना है। ध्यान के द्वारा ज्ञान उपजा करके सत्य को समझना है और पहचान लेना है कि "क्या हमारे भले के लिये है?" इस सत्य को पहचानकर यदि आपने अपने अन्दर उसे धारण कर लिया, तो समझो, जड़ तक आपके अन्दर अच्छाई उतर गई। यदि इस प्रकार भगवान् की एक कला भी आप में उतर गई तो समझो, आपका कल्याण हो गया।

(41)

बिन विचारे जाने कैसे? कैसे जिया जाये।
पूर्ण खाली मन तो पुनः शून्य में रमाये।।

(42)

शून्य में मन रमता नहीं, तब तृष्णा की रात।
निज से लड़ना सीख ले, बोध की हो प्रभात।।

(43)

खाली मन डटता नहीं, आदत डाले तनाव।
कड़वा खाना वरण कर, मीठा पाछे ठहराव।।

(44)

निज में मन ठहरे नहीं, अविद्या चाहे खेल।
दृढ़तर सब झेलत रहे, टरे दुःख सुख मेल।।

(45)

अविद्या रात कराल में, जो जगे निरंतर ज्योत।
अन्त बन्ध तासे टरे, छूटत जन्म और मौत।।

(46)

शून्य नाम रिक्त (खाली) स्थान का है। जैसे कि किसी कोष्ठ (कोठि) में बहुत सामान भरा हो, तो वह भरा कोठा कहलाता है, और फिर यदि

एक-एक करके सभी वस्तुओं को बाहर पटक (निकाल) दिया जाए, तो वह कोष्ठ शून्य हो गया कहा जाता है अर्थात् अब उसमें कुछ नहीं रहा। इसी भांति चेतन या आत्मा या न टूटने वाली ज्ञान की धारा सदा बह रही हैं, उसमें अविद्या, मान, मोह, राग, द्वेष, संशय और अनन्त प्रकार की दृष्टियाँ और उनके अनुसार कई प्रकार के बिना वश के होने वाले कर्म रूप भँवर पड़ते रहते हैं। जब कोई ऐसे भंवर न पड़ें अर्थात् शुद्ध ज्ञान विज्ञान रूप में आत्मा या चेतन हल्का होकर खाली हुआ-हुआ अपने सुख के साथ भासमान हो, तो यह शून्य अवस्था कही जाती है जो शास्त्रों में वर्णित है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा पर लदे हुए संसार के बंधनों के भार को विवेक, वैराग्य और ध्यान समाधि द्वारा बाहर पटक (निकाल) देना इसे कोरा, केवल जो ज्ञान है, उस की ही अवस्था कही जायेगी। कोठे के दृष्टान्त के समान यदि यही अवस्था अज्ञान आदि से भी शून्य हो जाए, तो यह परम शून्य मुक्त अवस्था का स्वरूप है। इसका तात्पर्य यह है कि जब चेतन इन सब बन्धनों से शून्य होगा, तो ही मुक्त अवस्था का अनुभव होगा।

(47)

रचना के संग चिपकाया, जब रचना रह नहीं पाये।
यूँ बुझे कुल मिट गया, फिर-फिर रचन को धाये।
सदा बना रहन को चाहत है, पर समझ ही रचना बनाये।
पर रचना एक दिन बिगड़नी, फिर-फिर रचन को जाये।।

(48)

रचना जन्म, बिगड़न मरण, अटल दोनों का मेल।
दो ताईं शक्त जो खींच है, दु:ख जड़, तृष्णा की बेल।।

(49)

याका मुख जग में खुले, रचन दिशा को जाये।

अड़चन का क्षण दु:ख है, राह चले क्षणिक सुख पाये।।

(50)

इसका रास्ता कठिन है, सब दु:ख इसमें मिलाये,
अंत में क्षण सुख न रहे, दु:ख, मौत और नींद बुलाये।

(51)

'नही रहा' कभी है नहीं, पर 'नही है', फिर भी बुझाये,
या में हेतु भाव यो, सो अविद्या ध्यान लखाये।।

(52)

मनुष्य अपना जीवन साधते हुए इन दस बन्धनों (दृष्टि, संशय, शीलव्रर्तपरामर्श (नाना प्रकार के कर्तव्य सम्बन्धी विचार), राग, द्वेष, रूपराग, अरूप राग, मान, मोह व अविद्या) को अन्दर पहचाने और पहचानकर धीरे-धीरे इनका त्याग करता जाए। अन्दर गहराई में जाकर इन्हें इनके छुपे हुए स्थानों से बाहर निकाल फेंकना है। इसलिए सार रूप में तीन मुख्य धर्म के अंग है बाहर अच्छा बर्ताव, मन ध्यान के योग्य और ध्यान द्वारा सत्यों को समझना अर्थात् यथार्थ सत्यों का ज्ञान प्रकट होने तक इसको बढ़ाते जाना, साथ में उनके अनुरूप जीवन को भी साधते जाना कि अन्त में अपनी आत्मा में आनन्दपूर्वक टिकाव मिल जाए। तो यह परमलक्ष्य की प्राप्ति ही होगी, इससे अधिक कुछ भी प्राप्त योग्य नहीं है। ऐसे में मनुष्य को यह अनुभव होगा कि बस! जो करना था कर लिया, जो जानना था सो ज़ान लिया और जो पाना था सो पा लिया, अब आगे पाने का शेष कुछ भी नहीं रहा।

(53)

दोनों मिलत हैं ध्यान में, मन खाली जो राखन चाहे।
सब हालत टालत रहे, कहीं जन्म न पाये।।

(54)

जाग्रत का जब वेग सब, सब हालत संग जाये।

निद्रा आलस सब टले, सहज ही सुख मिल जाये।।

(55)

दोनों वेग जो टालकर, दे तृष्णा की जो राह।

क्षण-क्षण बसना सीख ले, पावे मुक्ति की थाह।।

(56)

कठिन है क्षण का राखना, उल्टा उसका बहाव।

धीरज तब डटता नहीं, यत्न शिथिल को चहाव।।

(57)

प्रतीक्षा में है बैठता, रख आदत सुख की चाह।

दुःख में धीरज छोड़ता, पाव न मुक्ति की राह।।

(58)

सब थाँह जहाँ मन रमत है, इक-इक रचता जाय।

इनकी भूल-भूलैयों में, विवेक रह न पाय।।

(59)

मिथ्या भाव सब कोई बने, अच्छा रचे न जाय।

तेज आँख बंधन लखे, मन्द मति रुल जाय।।

(60)

धीरज धर सब कुछ लखे, और पहचाने खेल।

सुख दिखा दुःख रचत है, यह माया अनमेल।।

(61)

उन्हीं का सहारा सदा चाहे,

ब्रह्म का न भावे है विधान।

रहे दुर्गुणों में सदा ही रुलाये,

नीकी लागे न इसे गुणों की खान।।

(62)

यहाँ 'मैं' को मिटाय, थोड़ा खटका तो आय,

पर भासे जो अनन्त क्षण-क्षण में समाय।

राखे मन धीर, सह ले वेदना विपरीत;

क्रम से टले दुःख, पावे मुक्त परम प्रीत।।

(63)

यहाँ सूझ न बूझ कछु, अविद्या तम को फैलाये।

संस्कार को खींचकर, जस तस ज्ञान उपजाये।।

(64)

शून्य में मन रमता नहीं, घोर अविद्या की रात।

निज से लड़ना सीख ले, बोध की चढ़े प्रभात।।

(65)

कुछ भी हो, कुछ सूझ पड़े, भले दुःख क्यों न हो।

खुले पहचान जो बन्ध की, सुस्ती दूर भी हो।।

(66)

इक-इक कर चीने सभी, लम्बा आसन साध।

सब बन्धन जब चीन ले, सकल ही मिटे उपाध।।

(67)

बाहिर भावना शुद्ध हो, कुछ करने की न ठान।
मैत्र्यादि सब सबल कर, बन्धन का न रहे निशान।।

(68)

अविद्या छाती है जो सोचने का कुछ नहीं, सोचा सोचती है,
विद्या आती है, कुछ दुःख दिखाकर, उसी की जड़ बताती है।

(69)

जिस किसी वस्तु का अनुभव मनुष्य करता है, उसका संस्कार (छाप) मन में बैठ जाता है, और उसी संस्कार से पुनः उस वस्तु व उस व्यक्ति की स्मृति (याद) बाद में बहुत समय तक होती रहती है। इसमें अच्छी व बुरी दोनों ही स्मृतियाँ बनी होती हैं, जिनमें सुख को पुनः प्राप्त करने की कामना तथा दुःख से बचते रहने का भाव बना रहता है। धर्म मार्ग में दोनों को ही मिथ्या व अनुचित माना है। उत्तम स्मृति के लिए पूर्व में हुए संतों व ऋषियों आदि के जीवन चरित्रों को पढ़कर उनके उत्तम गुणों व कर्मों की स्मृति व उनकी जीवनचर्या व उद्योग, धर्म के मार्ग पर उत्तम कमाई आदि का स्मरण करके अपने-आप को सन्मार्ग पर प्रेरित करे। ऐसे में प्रभु कृपा बनी रहेगी।

(70)

देश, काल और पात्र देखकर धन, अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, भूमि, औषधि आदि वस्तुओं का दान देना तो ठीक ही है, पर यह दान देते समय अपने में "मैं-भाव" अथवा "अहं-भाव" को किसी प्रकार से भी मन में न आने दे। यदि कोई साधक कोई भी धर्म क्रिया करते समय "मैं-भाव" अर्थात् अहं-भाव से रिक्त हो जाये, तो समझना चाहिये कि उस व्यक्ति ने "मैं-भाव" का उत्तम दान कर दिया है। कोई भी क्रिया करते समय अपने "मैं अर्थात् अहंकार" भाव को न प्रकट होने दे बल्कि सब ईश-प्रेरणा से ही कार्य हो रहा है ऐसा ही भाव रखे,

"मैं" करने-कराने वाला न बने। जो 'मैं' का बलिदान कर देता है, भगवान् की दृष्टि में इस त्याग का बड़ा महत्त्व है।

(71)

जब तक संसार की ही बातों को जानने के लिए मन भटक रहा है, तो समझो ! मन में अविद्या का अन्धकार छा रहा है जोकि मोक्ष मार्ग का सबसे बड़ा बन्धन है। जब मनुष्य थोड़ा-थोड़ा करके मन को पहचानने लग जाए, तो धीरे-धीरे मन की पहचान इतनी खुलती जाएगी कि हाथ धोते, कुल्ला करते वही दस बन्धन पहचानने में आने लगेंगे, तथा यह भी पता लगेगा कि वे कैसे मनुष्य को दुःखी करते हैं। इनको ध्यान द्वारा समझते जाएं और आप एक-एक बन्धन को समाप्त करने का प्रयत्न भी करते जाएं। मन का बाहर भटकना ही जीवन में दुःखदायी है।

(72)

थोड़ा करुणा का भाव और प्रकृति विवेक,
संग मान का भी त्याग और त्यागे भाव अनेक।
इन सब की उलझन को दृष्टि में बसाये;
पर शील, ध्यान राखे बिना, सफलता न पाये।।

(73)

हर्ष बहुमान बने उद्धता का भाव,
यासे कौकृत्य बने सहज के स्वभाव।
होवे ऐसा वेग सहज रोका भी न जाये;
स्मृति राखे, संग त्यागे, दृष्ट उलझन बचाये।।

(74)

किसी का अपराध भी न मन में बसाये,
तासे क्रोध क्षोभ मिथ्या कर्म कराये।
करुणा का संग राखे पर शोधन का भाव;
शम सुख सहित देखे विद्या का प्रभाव।।

(75)

प्रकृति स्वभाव से प्रथम पूर्व पक्ष छाये,
सभी बन्धन उसी के बल से मिथ्या मार्ग चलाये।
चेत रही तो चेतन मन हो चेता दे भी बचा;
तप, त्याग और शमन के संग जो शून्य में सुख जचा।

(76)

बन्धनों से बद्धके तो मारग ही हैं दोये,
वही जग का मारग या फिर जड़मति होये।
मति की जड़ता के संग अविद्या गाढ़ सताय;
शुभ मार्ग न मिला तो जग में ही रुलाय।।

(77)

शास्त्रों के ज्ञाता कहते हैं कि जीव हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना, दुराचार और नशे आदि का सेवन करना, ये पाँच महापाप हैं। सबसे पहले इन महापापों से मनुष्य थोड़ा टले, तो बहुत सारे संसार के बन्धनों से इसका छुटकारा हो जाता है। फिर ऐसे में यदि अपनी आत्मा या अपना मन बाहर से फुर्सत पाकर, बाहरी संसार को भूल जाता है, और फिर अपने-आप में जागता है, तो उसको यह आत्मा अपने-आप में अपना प्रकट ज्ञान देता है कि देखो! मैं

आनन्द रूप में हूँ, सुख रूप हूँ और सुख रूप भी कैसे कि दूसरी बाहर की वस्तु के बिना भी मुझे सुख मिल रहा है, जो अन्दर का सुख है। शास्त्र कहते हैं कि जो संसार से मुक्त हो गया, वही आत्मा को पाता है और संसार से मुक्ति भी अपने-आप में बड़ी उपलब्धि है।

(78)

जो मनुष्य या साधक अपने मन के अन्दर शब्द के सहारे जप करता है, तो महात्मा गुरु लोग कहते थे कि यह शब्द गुरु होता है, *"शब्द गुरु सुरति धुन चेला"* अर्थात् जैसा अन्दर से गुरु का शब्द हुआ उसी शब्द के अनुसार अपने-आप को सम्भालने में सुरति या प्रीति रखे, वही सच्चा शिष्य है। सच्चाई तो यह है कि बाहर का गुरु आपको एक शब्द तो जप के लिए दे देगा और साथ में कुछ अन्य शिक्षाएं भी दे देगा, परन्तु चौबीस घंटों का, तीसों दिन का और बारह मास का गुरु तो आपके अन्दर शब्द रूप में ही बस रहा है। परन्तु वह तब बस रहा है यदि आपको मन की पहचान करनी आती है।

(79)

अपराधन का मूल बसा है कोई प्रसाद,
ठीक ! कर्त्ता का ही उस में छिपा है प्रमाद।
निज में, निज के हेतु ऐसा सुख निश्चय त्याग;
पर में पड़े जो दीखे, तो पर मैत्री में जाग।।

खण्ड - 6

सांसारिक बंधनों से मुक्ति हेतु

(अ) दस बलों की आवश्यकता (Necessity of Ten Powers)

(1) मैत्री (Friendly attitude)

(2) करुणा (Compassion)

(3) मुदिता (Praiseworthy attitude towards the good qualities of others)

(4) उपेक्षा (Affecting ignorance towards the bad qualities of others)

(5) क्षमा (Forgiveness) (खण्ड 9 भी देखें)

(6) शील (Right conduct)

(7) दान (Charity)

(8) वीर्य (Energy/Right Efforts)

(9) ध्यान (Absorbed Meditation)

(10) प्रज्ञा (Truth bearing knowledge)

(1)

प्रत्येक अवस्था में बाहर अपना बर्ताव सही रखना, इसी को 'शील' कहा जाता है। हम नहीं जानते, दूसरा कैसे रखता है लेकिन हमारा स्वभाव बाहर भद्र होना चाहिए अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति का होना चाहिए। ऐसा कोई भी बर्ताव नहीं करना जिसके लिऐ दूसरा आपकी ओर उँगली उठाये तथा मन में खोटा सोचे।

(2)

मनुष्य को अपने अन्दर भगवान के दस बल; मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा, उपजाने चाहिए, जो जन्म से प्राप्त नहीं होते। इन्हीं बलों को उपजाने के लिए कड़ी मेहनत (साधना) करनी चाहिए, तभी संसार के बीच में रहते हुए मन सही रूप से चलेगा, व जन्म मरण के चक्कर से मुक्ति पा सकेगा, जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

(3)

बाह्य जगत् के भेदभाव के बंधन सुख और दुःख के संवेदन से उत्पन्न होकर बढ़ते जाते हैं, और अन्त समय तक शुद्ध ज्ञान के स्वरूप को तो आवृत (ढके) रखते हैं, और बाह्य जगत् की ही एक मिथ्या आत्मा जो कि कामात्मा रूप ही है, को सम्मुख रखकर अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण (निश्चय) करते-करवाते रहते हैं। जिसमें सांसारिक 'मैं-मैं', 'तू-तू' का ही जाल फैला हुआ रहता है। इस प्रकार संशय, भय, प्रीति, द्वेष, मान, मोह इत्यादि में फँसा हुआ जीव कभी भी शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा में रमन न करके केवल भेदभाव वाले विविध जगत् में ही धँसा रहकर, अत्यन्त दुःख ही पाता है। इन बन्धनों को छोड़ने के लिऐ मैत्री, आदि दस बलों की आवश्यकता होती है।

(4)

इन बलों की कड़ी में मुख्य स्थान ध्यान का है, जो वीर-भाव प्राप्त कर लेने के बाद ध्यान करना इतना कठिन नहीं होगा। यदि आपने पाँचों विकारों को अर्थात् दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध और आलस्य या निद्रा को जीतना शुरू कर

दिया जो कि वीर्यवान (वीर पुरुष) जीतता है, तो समझो! आपका अकेले में मन टिकना शुरू हो गया। अन्दर के सत्यों को पहचानने का मार्ग खुल गया और मन अन्दर जुड़ना शुरू हो गया। इस अन्दर जुड़ने का नाम योग है। इस तरह से यदि आप निरन्तर विचार करते-करते और बाहर को भूलते हुए अन्दर मन में जागते हुए, चिन्तन करते व अन्दर के सत्यों को समझते हुए चलते रहेंगे, तो यही सारा योग है और यही 'ध्यान' है।

(5)

साधक को उत्तम फल हेतु अपने जीवन को साधना होगा व उसके लिये दसों बल अपनाकर अपने विकारों (बन्धनों) से मुक्ति पाना है। बाहर सादा धर्मानुसार जीवन, अन्दर ध्यान द्वारा सत्यों की परख करके प्रतिदिन आगे बढ़ते जाना है। इन दस बलों को अपनाना है, उनकी भक्ति करनी है और इस स्तर तक बढ़ाते जाना है कि उसे अपनी आत्मा में परमानंद प्राप्त हो जाए तथा सर्वव्यापक अपनी आत्मा ब्रह्म रूप से भी पहचान में आ जाये। इस जीवन को पाकर कई साधक तो मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते।

(6)

मन तो हर समय चलायमान है किसी क्षण भी टिकता नहीं। इसको प्राणशक्ति कहते हैं। यह सारा जो प्राण है वह क्रिया शक्ति है। यह भगवान् की क्रिया शक्ति सारे संसार को रचने वाली है, परन्तु है यह ज्ञान के साथ। सभी के अन्दर भी यही शक्ति बैठी हुई है। जब आपने इन सब विषय विकारों को पहले समझकर उनकी दिशा भी पहचान ली, फिर उनके कार्य भी समझ लिए कि वे अनर्थ करने वाले हैं, फिर उनसे लड़कर उन पर विजय भी पानी है और साथ में अपनी 'मैं' को भी जड़ से नष्ट कर देना है। यदि इस तरह से विद्या प्राप्त करके आपको खोटे विचारों से लड़कर मुक्ति पानी आ गई, चाहे इसके लिए आपको कितना भी तप करना पड़े, तो मनुष्य का मन निर्मल होकर अनन्त सुख व शान्ति पाएगा। इस पर आराम से, पवित्रता के साथ यदि आप विचार करेंगे, तो यह अनन्त सुख अपनी आत्मा का ही है जो सब परमात्मा का ही स्वरूप है।

(7)

हमें हर समय क्षमा रखनी चाहिए। जिसके हाथ में क्षमा का शस्त्र है, उसका दुर्जन कुछ भी नहीं कर सकता। यदि मन में क्षमा होगी, मनुष्य कहीं भी चला जाये कोई परवाह नहीं। इसलिये क्षमा एक बड़ा बल है। यह भगवन्त लोगों का है। जो भगवान हुए हैं, जिन्होंने यह धर्म का रास्ता चलाया है, यह भी उनका ही बल है।

(8)

धर्म मार्ग पर चलने हेतु भगवान के दस गुणों (मैत्री, करुणा, मुदित्ता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा) को अपने में विकसित करना होगा। इसमें वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा-इन तीनों को छोड़कर बाकी कि जो पहले सात हैं, वे बाहर मनुष्य के करने के हैं। दुःखी के प्रति दया का भाव मन में लाना, और किसी का सुख दृष्टि में पड़ जाए, तो अपने में सुखी होना अथवा किसी का गुण देखकर उसे शाबासी देना व प्रसन्न होना, वह भगवद्-भावना है। बाहर गुणों के रूप से और बलों के रूप से भगवान के गुणों की भावना करने से आप संसार में नही बंध पायेंगे। धर्म मार्ग पर चलते समय यह ध्यान भी रखना होगा कि अपना बर्ताव किसी भी अवस्था में खोटा नहीं होने देना।

(9)

शुभ गुण किसी का, जो दृष्टि में समाये,
निज में हर्षा कर उसको मन में बसाये।
ईर्ष्या जाये, द्वेष छूटे, टूटे अभिमान;
अल्पता का भाव छूटे, ब्रह्म में प्रयाण।।

(10)

दुःख में न टिकोगे, पावोगे कैसे ज्ञान ?
सुख हेतु अधीर को, छले अज्ञान।
जल बिन मीन तड़फे, मन पाने को बोध,
हरे बंधन, करे संस्कार मति अवरोध।।

(11)

इन बन्धनों व विकारों को समझकर हटाने के लिए केवल शब्दों को (प्रवचन आदि) सुनने या पढ़ने (धार्मिक पुस्तकें) से काम नहीं चलेगा। इसके लिए मनुष्य थोड़ा एकान्त में बैठे और इन शब्दों के सहारे अपने मन को इस तरह जगाए कि इनका अपने अन्दर ज्ञान हो जाये। साथ ही निद्रा पर भी नियंत्रण रखे। इस प्रकार ध्यान योग द्वारा ज्ञान योग प्राप्त करे। ध्यान का अर्थ है "एक ही दिशा में मन द्वारा खूब सोच-विचार करना अर्थात् बाहर की व्यस्तताओं से मन को हटाकर अन्दर ही चिन्तन में लगाना"।

(12)

सच तो यह है कि जब तक भगवान् का ज्ञान सुख रूप व आनन्द रूप नहीं जागता है, तब तक मनुष्य के मन का आकर्षण (खिंचाव) बाहर ही बना रहेगा। परन्तु ध्यान करते-करते, अभ्यास से जब सच्चाई झलकने लग जाएगी, तो मुक्ति पाने के लिए बल भी अंदर बढ़ता जायेगा और मन अपने-आप में टिकने भी लग जाएगा। फिर यही पता लगेगा कि यह तो सारा ज्ञान ही ज्ञान बह रहा है; भले ही वह राग-रूप है, द्वेष रूप है या काम (इच्छा) रूप है या भले ही वह क्रोध-रूप है। सारा अनन्त रूप वह ज्ञान ही है, और कुछ है ही नहीं। बस! तपस्या से ही यह सारा खेल समझ में आयेगा।

(13)

बंधनों से छुटकारा पाने के लिए इसके विपरीत (विरोधी) थोड़ा बलों को, विकारों के विपरीत गुणों को भी थोड़ा समझना व अपने अन्दर पैदा करना होगा जैसे कि सबके सुख में सुखी रहते हुए मैत्री-भावना बढ़ानी होगी ऐसे ही दया, वैराग्य, क्षमा, सन्तोष, धैर्य आदि गुण अपनाने होंगे। अब इन बलों व गुणों को धारण करने में जो तंगी होती है, उसे मनुष्य सहन करे। इस प्रकार इन गुणों व बलों को धारण करने के लिये मनुष्य को खूब प्रयत्न करना होता है। रात्रियाँ जागकर अकेले बैठकर, ध्यान में मन को जगाना पड़ता है, जिससे कि अपने अन्दर दोषों का ज्ञान हो जाए तथा उनको हटाने के लिए गुण पैदा करने का यत्न हो सके।

(14)

मनुष्य के लिए अनर्थ का कारण, मन का बाहर के सुखों के पीछे अत्यधिक भागना ही है। परन्तु यह ज्ञान, बिना अपने-आप समझे, बिना थोड़ी हिम्मत व उद्योग किये व बिना त्याग किये, किसी को अपने मन में कैसे मिल सकेगा? इसके लिए मनुष्य को स्वयं ही तैयार होकर अपने अंदर की आँख खोलनी पड़ेगी।

(15)

आप पायेंगे कि मुख्य रूप से दस बन्धन हैं जिनके कारण ही मन संसार में ही रमा रहता है, वह हैं : (1) दृष्टि (2) संशय (3) शील-व्रत परामर्श (कर्तव्य सम्बन्धी बहुविचार) (4) राग (5) द्वेष (6) रूप-राग (7) अरूप-राग (8) मोह (9) मान (10) अविद्या। इन्हीं की सन्तान हैं - काम, क्रोध, लोभ आदि विकार तथा इनके साथ ईर्ष्या, मत्सर, अधीरता व और भी नाना प्रकार के भय इत्यादि। स्मृति में रहकर इन सभी बन्धनों और विकारों को पहचानते हुए टाल देना है। इन बन्धनों से भी ऊपर अविद्या को भी देखते-देखते टालते जाना है। अविद्या के टलते ही, शान्त साक्षी भाव से टिकने से आपको अन्त में परम सुख मिलेगा।

(16)

अद्वैत में ही शांत होवे, आसन पै सुहाय,
सुमति उपजाता जाय, दु:ख सहता जाय।
बाहर का उपाय और दु:ख में धँसाये,
तत्क्षण के सुख को देखे जो सो पाछे पछताये।।

(17)

चेतन ध्यान वह है कि संसार जिस भी अवस्था में बस रहा है (चल रहा है) वह भले ही वैसे ही चले या बसे, परन्तु साधक सही भावना द्वारा अपना मन इससे खींच ले। मन को खींचने का नाम ही 'ध्यान' है, इसे (संसार से खींच कर) एक ओर लगा दो। ध्यान से मतलब यही है कि किसी वस्तु के चिन्तन में, स्मरण में मन इतना एकाग्र हो जाए कि और तो और मन का भी पता न रहे, तब ध्यान है। पर ऐसा ध्यान, मैत्री बिना नहीं होगा।

(18)

स्वाभाविक ध्यान के चार गुण हैं। प्रथम जिस समय हम चाहें, उसी समय ध्यान लग जाए। दूसरा जिस जगह हम चाहें, उसी जगह ध्यान लग जाए। तीसरा, ध्यान किसी प्राणी या पदार्थों की उपस्थिति पर निर्भर न हो। चौथा गुण यह है कि हम जितने समय तक ध्यान लगाना चाहें, उतने समय तक लगा रहे।

(19)

स्वाभाविक ध्यान उसका बनता है जिसने ठीक प्रकार से पाँच बल (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान और प्रज्ञा) प्राप्त कर लिये हैं, इनमें पहले तीन मुख्य हैं। पहले तीन प्रत्येक कर्म के बीच क्यों नहीं रहते? इसका कारण केवल काम (इच्छा) रूपी ठग है, जिसके लिये गीता में श्री कृष्ण भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! "निष्काम कर्मयोग सीख" अर्थात् प्रत्येक कर्म के बीच में से इस काम (इच्छा) रूपी ठग को निकालते-निकालते मन को जोड़कर कर्म करना सीख।

(20)

जब तक संसार की ही बातों को जानने के लिए मन भटक रहा है, तो समझो! मन में अविद्या का अन्धकार छा रहा है जोकि मोक्ष मार्ग का सबसे बड़ा बन्धन है। जब मनुष्य थोड़ा-थोड़ा करके मन को पहचानने लग जाए, तो धीरे-धीरे मन की पहचान इतनी खुलती जाएगी कि हाथ धोते, कुल्ला करते वही दस बन्धन पहचानने में आने लगेंगे, तथा यह भी पता लगेगा कि वे कैसे मनुष्य को दुःखी करते हैं। इनको ध्यान द्वारा समझते जाएं और आप एक-एक बन्धन को समाप्त करने का प्रत्यन भी करते जाएं। मन का बाहर भटकना ही जीवन में दुःखदायी है।

(21)

आसन पर चुपचाप बैठने का नाम ध्यान नहीं है। यह तो इतना ही है कि आपने जब बाहर से मन को मोड़ा, ऐसे में नींद आ गई, तो उसमें खो गये। इस प्रकार ध्यान की मुद्रा में बैठने का कोई लाभ नहीं होता है। इससे अच्छा तो अपने दिन के चरित्र (कर्म कलापों) की छानबीन (खोज) करें, अपनी गल्तियाँ, कड़वे

वचन, गलत विचार (भावनाओं) को ध्यान में लावें, और उनको जड़ से उखाड़ने का मन में निश्चय करें। सार में व्यक्त भगवान की भक्ति इस प्रकार करनी है कि सबसे पहले अपनी आत्मा का शोधन करे, आत्मा की शुद्धि से ही सब में बसे व सब में व्यक्त होते हुए भगवान की भक्ति हो जायेगी, जो 'ज्ञान-रूप प्रभु के सत्य आनन्द स्वरूप से मिला देगी'।

(22)

जहाँ सूझ न बूझ कछु, अविद्या तहाँ रुलाये।
इन्द्रियगण तो मन को, थोड़ा ही भरमाये।।

(23)

यदि मनुष्य के अंदर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान और प्रज्ञा (वस्तु का सत्य ज्ञान) यह पाँच बल आ जाएं, तो समझो! उसमें ज्ञान का प्रवेश हो गया। लेकिन यह बल आत्मवित् पुरुष अर्थात् जो अपने-आप को जानने वाला है, उसी को ही प्राप्त होते हैं। मनुष्यता का लक्षण यही है कि उसमें बुद्धि बनी रहे व बुद्धि से भला-बुरा सोचकर काम करने की आदत हो और फिर अपने को थोड़ा-सा संयम में रखे अर्थात् नियमों का पालन करे। यही धर्म का मर्यादा से चलने का मार्ग है जो मोक्षदायी है। इस रास्ते में आत्मा (अपना-आपा) पर ध्यान रखने वाला ही चल सकेगा।

(24)

मुक्ति पाने के लिए जीव के ज्ञान का विश्लेषण करने पर यह मनुष्य के उपयोग के हेतु उस को मोक्ष की दिशा में प्रेरित करने के लिए तथा समझने के लिए संज्ञाएँ (नाम) हैं, क्योंकि नाम बिना चिन्तन नहीं होता। चिन्तन द्वारा ही ज्ञान जगाया जाता है, तथा ज्ञान जागने पर ही मन संसार की उलझन से दूर हटकर शुद्ध अपनी आत्मा में प्रवेश व टिकाव पाएगा जिसका नाम निर्विकल्प अवस्था है, यही पूर्ण फल स्वरूप है, जो कि अनन्त सुख-रूप है। यदि इन संज्ञाओं द्वारा अर्थात् "जीव", "ईश्वर" या "परमात्मा" और "ब्रह्म" के अर्थों का चिन्तन न किया गया, तो संसार से मन कैसे हटेगा? अपनी आत्मा में

कैसे टिकाव पाया जायेगा? टिकाव बिना, सुख शान्ति का अनुभव भी नहीं होगा। ऐसे में परमात्मा के किसी भी नाम का स्मरण करते हुए मुक्ति पाने की चेष्टा करना है। नाम स्मरण आत्मा में प्रतिष्ठा को प्राप्त करवायेगा और उसके द्वारा ही शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

(25)

ध्यान के पाँच विघ्न हैं–दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध व आलस्य-निद्रा। मनुष्य को चाहिये कि इन सब विघ्नों को पहले कर्मयोग में पहचानते-पहचानते टालने का प्रयत्न करे। कोई भी सांसारिक कार्य बिना ध्यान के अर्थात् मन को वहाँ उस कार्य में लगाये बिना पूरा नहीं होता। इसलिए प्रत्येक कर्म के साथ जुड़ना ही पड़ता है, यही कर्मयोग है।

(26)

संसार में प्रकृति ही अपनी तरंगों से जीवन को चलाती है। यदि मनुष्य प्रकृति की आज्ञा का विरोध करता है, तो यह प्रकृति, उसकी स्मृति (होश) को भी ठिकाने नहीं रहने देती और सत्य को परखने नहीं देती। मन के भाव बिगाड़ देती है। ऐसे में यदि होश ठिकाने रहे, तो फिर हिम्मत (वीर्य) बन जायेगी, जो प्रकृति के दोष व विकारों, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, जलन आदि खोटे कर्मों के प्रेरक भावों को दबाने में सफल होगी। ऐसे में होने वाले कष्ट या दुःख को भी सहते जाने से प्रकृति के भावों से मुक्ति मिलती है। खोटा संकल्प बनते ही तत्काल उसे नष्ट करते जाना है।

(27)

प्रकृति के बलशाली प्रभाव का प्रतिरोध कठिन है। इसके लिये पहले बताए गये भगवान् के दस बलों (मैत्री, करुणा, मुद्रिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा) को रखकर अपना बाहर का जीवन ठीक ढंग से चलाते हुए, इस बाहर व्यापक-रूप भगवान् की भक्ति भी ठीक ढंग से करते जाना है। यही धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम उद्धेश्य तथा लक्ष्य है।

(28)

आसन पै टारे और टारता ही जाये,
रहे चाहे एकाकी व सभी में सुहाय।
शील को रखाये और मन को बचाय;
निर्मल बुद्धि राखे, दु:ख सुख न बुझाय।।

(29)

यदि आपके मन में दूसरों के प्रति अच्छे भाव हैं, तो आपके लिए भी उनके मन में भी अच्छे भाव बनेंगे तथा उनका अच्छा व्यवहार होगा। इसमें कोई कर्ता-धर्ता नहीं है। कर्ता-धर्ता तो भगवान् का कायदा है, जिसे संस्कृत में "विधि" कहा जाता है और जिसको आप विधान कहते हैं, वही ब्रह्म है। तो यही सब जो है इस चेतन परमात्मा का अधिनियम 'विधान' है। यही वास्तव में सब काम करते-कराने वाला, सुख दु:ख दिखलाने वाला, तथा अतंत: भले तक ले जाने वाला है। वह तो विधि-विधान का कायदा है, जो सब के अन्दर समान रूप में ज्ञान-रूप से बैठा है।

(30)

ध्यानों में ही निहित तेरे पावने का सुख,
परम पावनता से न हुआ जो विमुख।
यही ध्यान देंगे तुझे सत्य भी सुझा;
या से भव ताप लेगा जीवित बुझा।।

(31)

जहाँ-जहाँ से टलेगा साधक; शुद्ध तेरा मन,
वहीं-वहीं ध्यान देवें गुप्त ज्ञान धन।
क्षीण जो न हुआ तेरा पावन उद्योग;
निज में जीवन मिले, नित्य सुख संयोग।।

(32)

जैसे-जैसे आप भगवान के दस बल (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा) और गुण (वैराग्य, सन्तोष, तप आदि)

अपनाते जायेंगे, तो यही आपकी सच्ची भगवान् की भक्ति हो जायेगी। ऐसे में आप सब जगह अपने होश व स्मृति में रहकर ध्यान में ही हर क्षण अपने-आप को चताते रहेंगे और अन्दर ज्ञान उपजाकर अपने को सम्भालते भी रहेंगे। हर समय जागते हुए यदि आप इस तरह से भक्ति करते रहे, तो कर्मयोग, भक्तियोग (ध्यान योग) और ज्ञान योग, सब जुड़कर आपको उस परमात्मा के परमपद धाम तक पहुँचा देंगे।

(33)

जहाँ आपको मीमांसा (विचार) चाहिये, वहाँ ध्यान भी चाहिये। जहाँ ध्यान चाहिये वहाँ अपने विकारों को नष्ट करने के लिए हिम्मत (वीर्य) भी चाहिये। इसी का नाम वीर्य है। ये सब आपके तब बन पायेंगे, यदि थोड़ी स्मृति आप में बनी रहे। यदि आपको होश ठिकाने रखकर सारे कर्म करने की आदत पड़ गई, तो मन के द्वारा गलत रास्ते पर जाने से बच जायेंगे, कारण हिम्मत (वीर्य) आपको प्रकृति के द्वारा प्रेरित उद्वेग (जोश) को शांत करने में बहुत सहायक होगी, तथा ऐसे में जो दुःख होगा उसे भी धैर्य से सहन करने में सहायता मिलेगी।

(34)

धर्म ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाए गये हैं। जिस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए मनुष्य यत्न करता है, वह मनुष्य का प्रयोजन रूप पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है। मनुष्य को धर्म का आचरण करना भी उसके भावी सुख रूप प्रयोजन के लिए है, इसी प्रकार लौकिक सुख हेतु धन उपार्जन भी पुरुषार्थ रूप प्रयोजन है। और प्रकृति की जगत् चलाने वाली शक्ति, काम व काम सुख को भी पुरुषार्थ रूप से ही पुराने लोगों ने गणना की है। जिसका जन साधारण बिना पूर्ण ज्ञान से, त्याग नहीं कर सकता। परन्तु सबसे उत्तम और प्राप्त करने योग्य प्रयोजन तो मनुष्य का मोक्ष को पाना ही है, जिसे सब से उत्तम पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि संसार के सुखों को भोगते-भोगते जो दुःख उत्पन्न हो जाते हैं उनसे मुक्ति या मोक्ष सभी चाहेंगे।

(35)

जो सम्यक् प्रज्ञाओं की ले सक्यो न शरण,
निश्चय प्रसरित (निज) जाल में उसको 'मार' फंसाये।।
यद्यपि धैर्य के व्रत कोई धारे आमरण;
पर मार से दुर्गत वह सुख कबहुँ न पाये।।

(36)

जो विद्या का सुख है, स्व स्वामी को,
वह न सारे जगत् के इक राज्य में है।
और एकान्त में जो है ध्यान का सुख;
वह न खान में, पान में, मान में है।।

(37)

ध्यान का सुख स्व में ज्ञान का सुख,
सुखों में सुख, सम्मुख विमुक्ति सुख।
पर प्रथम साधित हो साधन का धन;
करे अनुसरण जो अमलिन मन।।

(38)

अपनी आत्मा की पहचान के लिए किसी भी शब्द के सहारे आप को कुछ अन्दर का स्मरण (चिन्तन) करना चाहिए, जिसे शास्त्र वाले 'ध्यान' कहते हैं। शास्त्रों के अनुसार इस ध्यान के पाँच अंग है: (1) वितर्क (2) विचार (3) प्रीति (4) आनन्द (5) उपेक्षा (परिशुद्धि वाला ध्यान)। वितर्क ध्यान में नाम जप आता है अर्थात् शब्द का जप करते हैं। आपको खाली शब्द (नाम) बोलना है, चाहे उसे होंठ (वाणी) या मन से बोलें, चाहे कीर्तन करें। फिर नाम जपने के साथ-साथ यदि उसी शब्द का अर्थ परमेश्वर रूप का

विचार जाग जाए, तो समझो ! वितर्क के बाद विचार रूप ध्यान बन गया। शब्द के अर्थ का चिन्तन करने का नाम ही विचार है। जिस समय शब्द के सहारे से चिन्तन जाग जाए तो इसका अर्थ है कि अन्दर समझ जाग गई, जिससे आप अन्दर कुछ समझने भी लग गये, तो ऐसे में मन उसमें लग जायेगा। कुछ समझने में जो लगन है, उसी का नाम प्रीति है। यदि लगन वाला ध्यान मन में बहुत देर तक अन्दर जानने के लिये खुला रहेगा, तो उस मनुष्य को सुख व 'आनन्द' भी मिलेगा तथा आसन भी स्थिर होने लगेगा। इस हालत में यदि आनन्द लेने का भाव भी न बने बल्कि उस क्षण को देखते-देखते समय व्यतीत करें। सुख व आनन्द में भी बराबर अथवा सम रहकर अपने मन की हालतों को पहचानने के लिये यदि उसकी नज़र खुली रहेगी, तो यह ध्यान 'उपेक्षा-परिशुद्धि' वाला सत्य वस्तु का ज्ञान करवायेगा।

(39)

जब तक चिन्तन स्मरण नहीं जागेगा तब तक सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होगा। तो शब्द बोल-बोल कर भगवान् के गुणों का अर्थ सहित चिन्तन करते हुए उनमें यदि गाढ़ प्रीति हो जाए और आनन्द आने लगे, तो समझो ! कि बाहर का संसार कट गया। ऐसे में उद्योग करते हुए (तप-रूप) आलस्य, सुस्ती वाला मन भी छोड़ते जाना है, तो यही सब तपस्या है जो दो मिनट से लेकर आधा घंटा तक की बन जाएगी। एकान्त में बैठने की आदत डालने के लिए आपकी श्रद्धा काम करेगी, कारण कि बिना श्रद्धा के धर्म का रास्ता नहीं चला जाता। 'योगदर्शन' में लिखा है कि *'तद् जपस्तदर्थ भावनम्'* अर्थात् यदि उसके नाम का जप कर रहे हैं, उसके अर्थ का चिन्तन भी करें। यदि चिन्तन नहीं किया, तो वह जप अधूरा ही है और ध्यान तक नहीं पहुँच पायेगा, तब ज्ञान और मुक्ति भी नहीं मिल पायेगी अर्थात् संसार से छुट्टी नहीं मिलेगी।

(40)

यदि मनुष्य को अपनी अपनी आत्मा के अंदर ही पहचान में आने वाला व बना रहने वाला सुख मिल जाये, तो उसे बाहर भागने की जरूरत ही नहीं रहेगी।

साथ ही जब उसे यह भी समझ हो गई कि बाहर के सब सुख सदा बने रहने वाले भी नहीं है, तो समझो! वह अपनी आत्मा के अन्दर आ गया, तो ऐसे में उसे अपनी आत्मा का सारा सत्य झलक जायेगा, जिससे धर्म पर चलने का रास्ता भी आराम से मिल जायेगा। इसके अतिरिक्त निदिध्यासन (ध्यान का रास्ता) भी अंदर की आँख खोलने के लिए बहुत प्रभावशाली है। 'निदिध्यासन' से अर्थ है – बड़ी लगन से ध्यान करना। ऐसे में होने वाले दुःखों (भय, इच्छा, मान-अपमान, निद्रा त्याग आदि) को भी सहते जाना है क्योंकि जितनी अच्छाइयाँ व शिक्षाएँ हैं वे दुःख सहन किये बिना नहीं आतीं।

(41)

निदिध्यासन (ध्यान का रास्ता) से मनुष्य को पता चलेगा कि बाहरी संसार से छूटने के दुःख का कारण उसकी आदतों के सुखों की तृष्णा का ही है, जो कि कभी भी इन तृष्णा के पदार्थों से पूरी नहीं हो सकती। तो ऐसे में विचार करके इस तृष्णा को इसके सुख का पदार्थ न देकर यदि धैर्यपूर्वक इस बनी हुई तृष्णा को इसके दुःख के साथ-साथ धैर्यपूर्वक क्षण-क्षण देखता व झाँकता हुआ सहन करता जाये, तो समय पाकर ये तृष्णा अपने दुःख के साथ-साथ स्वयं टल जायेगी, तथा इसके टलते ही मन में सदा बने रहने वाला सुख प्राप्त होगा। अब जो सुख प्राप्त होगा वह तृष्णा से मुक्त केवल अपनी आत्मा का है और यह सुख हमेशा बना रहेगा। अपने-आप में दुःख को पहचानना, झेलना व ऐसे में धैर्य रखना, इन ईश्वरीय गुणों को अपनाकर साधक भव सागर से पार हो सकते हैं।

(42)

जो भी भगवान् का या परमात्मा की पहुँच का मार्ग अपनाता है उसके अन्दर इस प्रकार का भाव होना चाहिए कि किसी की भी कोई अच्छाई या उसका गुण है उसके लिए मेरी प्रशंसा व प्रसन्नता है। उत्तम धर्म के मार्ग पर चलने वालों के लिए चाहे कोई भी किसी प्रकार का बर्ताव करने वाला हो, उसके प्रति भी अपना बर्ताव सही रखना है, इसी को 'शील' रखना कहा गया है। इसी को

पुराने लोग भद्र व्यवहार कहते थे। ऐसे शील रूप बल को , धारण करने वालों को वेदों में 'आर्य' शब्द से कहा गया है। आर्य का अर्थ है पूज्य। उनका व्यवहार निर्मल, दोष रहित व सुख देने वाला होता है।

(43)

मैत्रादि दस बलों को अभ्यास द्वारा समृद्ध करने के लिए निरंतर व्यवस्थित जीवन यापन करना ही एकमात्र मार्ग है, जिसमें बाह्य जगत् के सब बन्धनों से मुक्ति पाना अनिवार्य है। जो जगत् हमारी इन्द्रियों द्वारा (श्रोत्र, चक्षु आदि द्वारा) हमें अनुभव में आता है तथा मन द्वारा हम सबके ज्ञान में प्रतीत होता है, उसी का ही सकल बन्धन कई एक रूपों में मन या आत्मा को जकड़े रहता है, जिससे छूटे बिना केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा की निज़ में अभिव्यक्ति (प्रकाश), भान और तृप्ति अनुभव में नहीं आती। अत: इन बन्धनों से भगवान् के दस बलो के द्वारा मुक्ति पानी है ताकि हम उस ज्ञान स्वरूप ज्योतिर्मय आत्मा को देख सकें।

(44)

जैसे आज मीठा आत्मा का प्यार,
आये दिनों कहीं भटक न जाये।
हो यूँ आज से ही वैसे ही प्यार;
या से सब दिन वैसा मुझे भाये।।

(45)

मति और स्मृति से जो करे परिहार,
मन में उजाला रहे, दे अनर्थ टार।

(46)

जिस उत्साह से भागे बाहर तेरा मन,
वैसा पाने का न कुछ भी वहाँ दीखे धन।
अन्त में मिलने को तो है वहाँ सघन खेद;
या का दुष्कर होगा पुनः करने को भेद।।

(47)

रहे स्मृति, बने वीर्य, ध्यान जुट जाय;

मिले खोजा सत्य, बंध टले, सुख पाय।।

(48)

विश्वास युक्त मन पहले जैसी प्रीति पाय,

कैसा भी बहाव जग का उसे न सताय।

बोध की अपार महिमा, बन्धन छुड़ाय;

स्मृति, वीर्य, ध्यान, सत्य शोध जो मिलाय।।

(49)

आत्मा पै बोझ लदे, क्षुब्ध हो जो मन,

कैसा भी हो धर्म राखा, सहज न शमन।

जड़ चेतन सारा जगत् उल्टा ही सुझाय;

जीते नींद और जग की तृष्णा, बोध से मुक्ति पाय।।

(50)

भगवान् के दस बल जिन्हें साधक को मोक्ष मार्ग पर चलने हेतु अपने में उतारना है, उसमें पहला बल है 'मैत्री' अर्थात् दूसरे के सुख में सुखी होना। दूसरा है 'करुणा' यानि दया भाव, दूसरे के दुःख में उसके प्रति दया मन में रखना, चाहे आप उसकी सहायता न भी कर पायें। तीसरा गुण है 'मुदिता', इसका तात्पर्य यही है कि दूसरे के छोटे से गुण को भी दृष्टि में रखकर प्रशंसा करना व प्रसन्नता व्यक्त करना। चौथा गुण है 'उपेक्षा' अर्थात् दूसरों के दोषों को नजरअंदाज करना या बेखबर रहना। तो बताओं, जिसमें यह चारों गुण हैं उसका संसार में कौन व क्योंकर कोई शत्रु होगा।

(51)

धर्म के मार्ग में पाँचवा बल 'शील' है, इसका तात्पर्य यही है कि दूसरे का व्यवहार कैसा भी हो आपको अपना व्यवहार धर्म के नाते श्रेष्ठ (भद्र) ही रखना है। इसमें अपनी 'मैं' का त्याग (दान) करना पड़ता है। छठे बल में 'क्षमा' है जिसमें दूसरे द्वारा आपको दु:ख प्राप्त होता है, या वह आपके सुख प्राप्ति के प्रयासों में अड़चन डालता है, तो उसे अपराधी न समझ करके, उसके प्रति क्षमा का भाव रखना। इसके लिए सहन शक्ति को बढ़ाते जाना है। इसी कड़ी में सातवाँ बल 'दान' है, इसमें सबसे बड़ा दान तो 'मैं' का कहा गया है, तथा फिर यथाशक्ति दूसरों को विद्या या द्रव्य अथवा भोजन, वस्त्र, दवाईयाँ आदि उपलब्ध करना आता है।

(52)

गीता में नरक के तीन दरवाजें बताए गए हैं– काम, क्रोध और लोभ। पहले इनको त्यागो, तब ही मनुष्य अपनी भलाई साध सकता है। संस्कृत में कहा है *"कमु कान्तौ"* अर्थात् कोई भी वस्तु या पदार्थ प्रिय लगकर मन को खींचती है कि आवो! मेरे को लो, मेरे लिए ऐसा करो, तो यही काम है, पर यह एक, दो या चार नहीं हैं, अनेक हैं। सारी इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में काम है, जैसे गीता में कहते हैं *"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग द्वेषौ* ....इत्यादि"। सो राग-द्वेष के वश में नहीं आना है, कारण यह काम, राग का ही बेटा है। काम का रुका प्रवाह ही क्रोध उत्पन्न करता है जो विवेक को भी नष्ट करके उससे मिथ्या कर्म करवाता है। इन सब दोषों को समझते हुए, बुद्धि को जगाते हुए सारे बन्धन विकारों को समाप्त करना ही आठवाँ बल 'वीर्य' (वीर भाव) है।

(53)

अन्तिम बलों की दसवीं कड़ी में 'प्रज्ञा' है। 'प्रज्ञा' शब्द का विशेष करके तात्पर्य उस ज्ञान से है, जो शोधा हुआ ध्यान द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य भी कई छुपे हुए सत्यों को प्रकट करने वाला ध्यान ही सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा को प्रकट करता है। उसके प्रकट होने पर साधक पुरुष मिथ्या पुराने विषयों के सुख को छोड़कर वैराग्य को प्राप्त होकर सब विषयों के बन्धनों को छोड़कर

अपनी आत्मा में स्थिर होने का सच्चा सुख पाता है। यह सब प्रज्ञा की कृपा है।

(54)

'प्रज्ञा' शब्द का विशेष करके तात्पर्य उस ज्ञान से है जो शोधे हुए ध्यान द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि उपर से सत्य या सुख देने वाली वस्तु या प्राणी प्रतीत होने पर, उस पर गहन विचार करने पर उससे विपरीत (विरुद्ध) जो कोई सत्य (असलियत) का शोधा हुआ पूर्ण ज्ञान है, वही 'प्रज्ञा' शब्द से कहा जाता है। जैसे कि विषयों का सुख आदत के अनुसार सब को प्रिय लगता है, पर उसकी प्रियता सदा बनी रहीं रहती। सत्य का ज्ञान जो ध्यान में झलकता या होता है वही वास्तव में प्रज्ञा है, जिसके प्रगट होने पर साधक पुराने मिथ्या विषयों के सुख या बन्धनों को छोड़कर अपनी आत्मा में स्थिर होकर सच्चा सुख पाता है।

(55)

किसी भी वस्तु को जानना 'ज्ञान' कहा जाता है। जैसे ब्रह्म को पहचानना ब्रह्म ज्ञान या आत्मा को पहचानना आत्मज्ञान कहा जाता है। आत्मा को या सर्वव्यापक ब्रह्म को अपने अन्दर प्रत्यक्ष रूप से पहचानना, यही ब्रह्म (आत्मा) का विज्ञान हैं। यूँ ज्ञान तो किसी वस्तु को सुनने या पढ़ने से भी हो सकता हैं, परंतु प्रत्यक्ष साक्षात्कार अपने सामने निकट रूप से जो ज्ञान होता है, वह विज्ञान है। इस प्रकार का सत्य का ज्ञान परम महत्व का है, जिसे प्राप्त करने पर मनुष्य को बाह्य जगत् से पूर्ण रीति से मुक्ति मिल जायेगी। पुनः संसार में रमण करने का मन नहीं रहेगा। मित्र, बैरी आदि की दृष्टियों को केवल व्यवहार तक ही सीमित रखना, सत्य में तो उसी एक को सब में जानकर तथा समझकर, आत्मा में निवृत्ति का सुख अनुभव करते हुए शान्त रहना, यही ज्ञान धन्य है।

(56)

दृष्टि, न संशय न काम ही, न क्रोध व नींद सताय।

स्थिर आसन नापे लगे, न श्रम से धीर घबराय।।

(57)

लम्बा जागे तो दृष्टि में, बंधन इक–इक आय।

ज्ञान दृष्टि जाग्रत रहे, पाला इनसे छुड़ाय।।

(58)

दु:ख में धैर्य को थाम ले, सुख आत्मा में पाय।

कुछ जानन, करन का न रहे, पाने को कछु न रहाय।।

(59)

सबसे बड़ी माया माना सबसे बड़ा सुख,

उसी में निहित जन का सबसे बड़ा दु:ख।

बिना सम्यक् ध्यान के सत्य को सुझाय?

उद्योग बिना इस के वैसे पार कैसे जाय?

(60)

पुन: वीर्य बुलाती है, उद्योग पूरण कर, बंधन सभी छुड़वाती है;

तृष्णा सकल सुजाती है, जिस को पार करा परमात्मपद दर्शाती है।।

(61)

जब निज में ज्ञान देखे सभी बन्धनों का जाल,

विश्व ज्ञान में भी दीखे वैसी उनकी चाल।

आत्मा, परमात्मा का अर्थ भी सुझाय;

टूटें बन्धन, शुद्ध सत्व दो में भेद न पाय।।

(62)

धर्म के बारे में सत्य का परिचय पाना और परिचय पाकर उस सत्य के अनुसार उत्तम गति को प्राप्त करना, यही सब धर्म के सत्संग का फल है। तो पहले इस

धार्मिक सत्संग का आरम्भ कहाँ से है। साधारण जीवन में पैदा होने के बाद सारी आयु बाहरी संसार के बीच में रंग जाने से, उसे अपने-आप (अंदर) के सुख का पता ही नहीं चलता तथा वह मृत्यु से भी डरता है कारण कि यह संसार का सुख उससे छूट जाएगा। तो ऐसे में अगर किसी व्यक्ति को इसी अपने-आप की खबर या समझ बिना इस बाहरी संसार के ही प्राप्त हो जाए, तो इसी को संत लोग ऐसा कहते हैं कि "जीते जी उसने मरके देख लिया" तथा ऐसे में मौत उसके लिऐ डरावने वाली चीज नहीं रही, "तो ऐसी जगह भी पहुँचा जा सकता है कि जहाँ आनन्द की कभी समाप्ति नहीं और जहाँ कभी भय भी नहीं।" इसी विद्या को या इन्हीं सब सत्यों को बतलाने वाला यह धार्मिक सत्संग या धार्मिक जीवन है।

(63)

गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं: *" सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् ब्रज"*, अर्थात् हे अर्जुन! तू सारे धर्मों का त्याग करके एक मेरी शरण ले। सारे धर्म कौन से हैं ? यही जो अंदर "मैं" तथा इसी के बीच में लपक या उफान उठते हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ आदि व्यक्ति के स्वार्थपूर्ति हेतु भाग दौड़। तो भगवान् के कहने का अर्थ है कि निष्पक्ष व्यावसायात्मिक बुद्धि को अंदर बसाकर, भड़काव के समय इसका उपयोग करो। यदि आपने इस बुद्धि की शरण ले ली तो समझो! तुमको बचने का मार्ग मिल गया और तुम दु:ख में भी डटे रहोगे।

(64)

इस पै ध्यान जो दु:ख का ही साजे, देखे दु:ख का मूल,
मिटे जो भव औ विभव की तृष्णा, सकल मिटा ले शूल।
क्षण-क्षण दु:ख का टालना सीखे, प्रतिदिन करे अभ्यास;
मन, बुद्धि, जीवन शुद्ध राखे, नित्य सुख में करे निवास।।

खण्ड - 6 (ब)

आठ अवगुणों से छुटकारा पाना

(Eight Organs to set apart)

(1) मिथ्या दृष्टि (Wrong Viewing)

(2) असम्यक् संकल्प (Wrong aspiration)

(3) मिथ्या कृति (Wrong emotion / Wrong mental energy)

(4) मिथ्या वचन (Wrong conduct of speech and behaviour)

(5) मिथ्या कर्यान्त (Something ending in a wrong act / Act acting in wrong)

(6) मिथ्या (असम्यक्) आजीव (Wrong livelihood / Wrong living)

(7) मिथ्या ध्यान (Wrong meditation / Wrong planning)

(8) मिथ्या स्मृति (Wrong memories)

(1)

अपने अन्दर जैसा ज्ञान होता है, उसी के अनुसार दूसरों पर प्रभाव पड़ते हैं। यदि आप अपने मन में ज़हर लिए बैठे हुए हैं, तो उस अपने अन्दर के ज़हर को छुपाने के लिए आपके दिखावा करने पर भी सामने दूसरे से भी प्रभाव ज़हर वाला ही आयेगा। यदि दूसरे के मन में ज़हर हैं, भले आप नहीं भी पहचानो, परन्तु आपके अन्दर बैठा हुआ देव उसके ज़हर के मुताबिक उसी तरीके से ऐसी तरंग आपके मन में चलाएगा कि आपसे अच्छा बर्ताव होने ही नहीं देगा। "यही प्रतीत-समुत्पाद, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" होने का सत्य है।

(2)

जिन प्राणियों व पदार्थों में मिथ्या दृष्टि बनेगी उन्हीं के बारे में पुनः मिथ्या संकल्प भी बनते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस बाह्य वस्तु के संग से सुख पाया हो, तो पहले उसकी दृष्टि बनेगी, फिर उसे प्राप्त करने का संकल्प बनेगा। ऐसे ही विपरीत भाव उस प्राणी या पदार्थ के बारे में बनेंगे जो दुःखदायी लगता है और वह उनसे पीछा भी छुड़ाना चाहेगा। पर जो मनुष्य मिथ्या दृष्टि को समझकर, कर्म में ही मन जोड़कर स्मृति से करता जाए व भले संकल्प बनाता हुआ, कुदृष्टि को भी टालता जाए, तो इससे मिथ्या संकल्प पर जीत प्राप्त हो सकेगी। इस हेतु 'तेरे-मेरे' के विचार को टालते जाना है और प्रज्ञा द्वारा उत्तम विचार को जगाते रहना ही साधन के मार्ग में चलना है।

(3)

प्रत्यभिज्ञायें ही भव को रचायें,
जिन को निखिल बनावे संस्कार।
यही दृष्टि को बनाके 'यही वह';
जने काम, बने भाव और विकार।।

(4)

सुख राग, दुःख द्वेष भरा (मन) स्राव,

बाल तिनके संग पावे "मैं" का भाव।

अविद्या छा के इसे जैसे ही छिपाय;

बना रहने का मोह वही, वह को धाय।।

(5)

क्षण-क्षण चेते सही विज्ञान,

अविद्या नहीं रहे, संस्कार हान।

आगा पीछा न मिले, न बने धार;

मति स्मृति वाला जावे भव पार।।

(6)

मिथ्या कृति का अर्थ है जो मन को मिथ्या, दुःखदायी, कल्याण के विपरीत उत्तेजित करके सब मिथ्या कर्मों व मिथ्या ढंग से ही प्रेरित करे। मिथ्या दृष्टि बनने से ही मिथ्या संकल्प भी बन जाते हैं, जो यदि यह हटाये न जायें, तो अनेक विकारों को उपजाते रहते हैं, जो प्राणी से मिथ्या कर्म करवाते हैं। जब मन में मिथ्या दृष्टि, मिथ्या संकल्प और मिथ्या कृति रूप से काम, क्रोध आदि विकार ही छाये रहेंगे, तो उसका वाणी व्यवहार भी दूषित होगा। मिथ्या कृति से मुक्ति पाने हेतु सम्यक् या भली कृति का आवाहन करें, अर्थात् काम के विपरीत वैराग्य को, लोभ के विपरीत संतोष को, क्रोध के विपरीत क्षमा को मन में स्थिर करें। द्वेष में मैत्र्यादि, अधीरता में धैर्य आदि अपनाने से कल्याण मार्ग शुद्ध होगा। इसी भाँति मिथ्या वचन व्यवहार को त्यागने हेतु पूर्व के ऋषियों के बताये अनुसार *"मंत्रपूतं वदेत् वाक्यम्"* अर्थात् जो कुछ बोला जाए वह मन में गुप्त रीति से समझकर ही बाला जाए। तो इस प्रकार मिथ्या वचन के स्थान पर सम्यक् वचन बोलने का यत्न ही सदा बनाए रखना है।

(7)

मिथ्या कर्मान्त के त्याग से अर्थ है ऐसे कर्मों को न करना, जो कि अन्त में मिथ्या सिद्ध हों। तात्पर्य यह है कि अनियमित कर्म सुख लोभ के भड़कावे में आकर तृष्णा, काम, राग, द्वेषादि से होने वाले कर्मों को मौका नहीं देना चाहिये। इसी कड़ी में मिथ्या (असम्यक्) आजीव का त्याग है, अर्थात् जब प्राणी मिथ्या दृष्टियों के चक्र में पड़कर, मिथ्या संकल्पो व मिथ्या कृति (उत्तेजनाओं) के जाल में फँसा मिथ्या कर्मों में ही व्यस्त रहता है, तो उसका समय आसन, ध्यान, संयम में तो व्यतीत होगा नहीं। इसके विपरीत व्यर्थ की संगत, गप्पबाजी, आलस्य आदि का जीवन जीएगा, इसे ही मिथ्या आजीव कहा जाता है, जो दु:खपूर्ण व दुर्गति दायक ही है। इसके शमन हेतु नियम से धर्मानुकूल जीवनयापन, सदा विचार शील, स्मृति और मति (सत्य की समझ) रखते हुए व्यवहार करना आवश्यक है, जिसे सम्यक् आजीव (भला जीवन) कहते हैं और वही भवसागर से मुक्ति प्रदान करने में सहायक होगा।

(8)

यही सत्त्व, यही जीव, "मैं-मैं" करता धाय,
ऐसा लागे जैसे शाश्वत्, क्षण भर पर दिखलाय।
सर्व को रच कर, निज को रचता, करता सारे खेल;
ज्ञान स्वरूप में नहीं जो सम्भला, बढ़े तृष्णा की बेल।।

(9)

बाहर देखे जन क्या भी वस्तुओं का सत्त्व,
बुद्धि सत्त्व धोखा देवे उनमें न कोई तत्त्व।
तामें भी है झलके कोरा पुरुष का विज्ञान;
जो विविधता में सम देखे, पावे पद निर्वाण।।

(10)

दीखे दु:ख की आग में इक वही विज्ञान,
और शम सुख के जल में, वर्षे सोई एक महान्।
देखा कुछ-का-कुछ बालक ने वह बहि:;
अन्तर्मुख विज्ञ जो परखे वही सर्वत्र सहि।।

(11)

विज्ञप्ति की इक सार बहती रहे धार,
यहाँ कहीं रुकी करे अविद्या संचार।
जैसा तैसा जग का जगावे संस्कार;
आत्मा में जो चेते सो जावे भव पार।।

(12)

रही जो सूझ बूझ तो अविद्या दीनी टार,
निज में जो रहा बोध तो न पड़ो मंझधार।
थोड़ी-सी जो वेदना को सहले, निज में मन;
बन्ध छुटे, सुख पावे, सीखे पर शमन।।

(13)

प्रियतर जो बाल को भाय, सुहाय,
तामें परिपक्व बुद्धि देखे दोषों का पूर।
परिपूर्ण प्रज्ञा या में स्थिरता को पाये;
वह है बाल की कल्पना से अति दूर।।

(14)

प्रत्येक जीव को संसार में आकर बाहरी पदार्थों व प्राणियों के बीच अपनी सत्ता व हस्ती मिलती है, उसके साथ इसकी अपनी प्रीति रहती है, जिससे व समझता है कि मैं ऐसा सदा बना हूँ, उनके संग से उसको जो अपना-आपा सुख-रूप प्रतीत होता है, उस अपने-आप के साथ उसको इतना

मोह हो जाता है कि संसार का संग न रहने पर वह अपने को उजड़ा-सा, नष्ट हुआ-सा मानता है। परन्तु वह इसी में हमेशा बने रहना चाहता है। पर जो जन्मा है वह मरेगा भी, इस कारण मृत्यु का विचार उसे भयभीत करता है। धर्म के सत्संग का तात्पर्य यह है, कि वह प्राणी इसकी सहायता से अन्तरात्मा के सत्य रूप को पहचाने और समझे कि मृत्यु से डरने की कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी में एक तत्व ऐसा है जोकि कभी मरता नहीं और सदा बना रहता है, पर इतना जरूर है कि उसे पाने के लिए अविद्या के पर्दे हटाने होंगे जिन्होंने उसे ढक रखा है।

(15)

जब मिथ्या दृष्टि थोड़े सुख या दु:ख के अनुभव से मित्र और वैरी की दृष्टि बनाएगी और उससे पुन: मिथ्या संकल्प तथा मिथ्या कृति की तरफ ही मनुष्य को धकेलेगी, तो ऐसे में वह उसके लिए योजना बनाता है, जिसमें वह अपने को सुरक्षित रखकर दूसरे का बुरा करने का मन बनाता है। ऐसे सारे ध्यान मिथ्या ध्यान ही कहलाते हैं। मुख्यत: अपने बाह्य सुखों के हितों के लिए सदा सोचते रहना, चाहे उसमें दूसरों का अहित ही क्यों न हो। इन मिथ्या ध्यानों को जिनका अन्त दुर्गति में ही होता है, तथा साथ ही यह मन की शक्ति तथा समय का दुरुपयोग ही करते हैं, इसलिये इन मिथ्या 'ध्यानों' को हटाकर मनुष्य को सम्यक् (भला) ध्यान करना चाहिये। ऐसे ध्यान में अपनी दिनचर्या को देखे कि कहीं पाप तो नहीं बन पाये ? जिससे उन पापों को शोधन करने का मौका मिले। इस प्रकार से उद्योग करके भद्र उद्देश्य हेतु जो-जो भी ध्यान हैं, वे सब मिथ्या ध्यानों के विपरीत सम्यक् (भले) ध्यान कहे जाते हैं, जो कल्याणकारी व विघ्न नाशक हैं।

(16)

'गो' नाम इन्द्रियों का है, इनको विषयों से हटाकर अपने-आप में रखना, यही इन्द्रियों का लाभ, इन्द्रियों को जगत् में भटकने से बचाना रूप गोविन्द शब्द का अर्थ है। यह भगवान् कृष्ण का नाम है, इससे अन्तरात्मा में उसी का साक्षात्कार

होता है। अर्थात् जब-जब उन कर्मों में मिथ्या दृष्टि आदि खड़े होंगे, तो आप कर्म में ही स्मृति रखते हुए उनको ध्यान की स्मृति से टालते जायेंगे। इस प्रकार दसों इन्द्रियों और मन की चेष्टाओं में कहीं भी उस पाप को नहीं बसने देंगे, तो आप पुनः काया के पाँचों भूत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश में भी शुद्धि को बसा लेंगे। खायेंगे स्मृति से, पीयेंगे स्मृति से, श्वास, प्रश्वास अकेले में स्मृति से ही लेते हुए सब स्थानों से पाप को भगाते रहने से आप को पाप और उसकी उलझन का दु:ख सदा के लिए छोड़ जायेगा।

(17)

सदा जो बनी रहेगी नहीं शान,
उसके पाये का करे क्या कोई मान।
प्रत्युत मन को भ्रमा के वह हरे बोध;
भद्र पथ का ही या से हो अवरोध।।

(18)

दृष्टि शुद्धि के हेतु हुए वे वे दर्शन महान्,
दूसरों ने चर्या को ही दिया मुख्य स्थान।
भगवत्तत्त्व में तो हुआ इन दो का समावेश;
दृष्टि शुद्धि और चर्या का सुस्थित निर्देश।।

(19)

जैसे दु:ख दौर्मनस्य और विषाद,
वैसे सुख सौमनस्य और प्रसाद।
जन्में दो में ही बाल का 'मैं' का मान;
सस्मृति युक्त हो धीर बल प्रधान।।

(20)

जैसे–जैसे ही हुई वेदना विपरीत,

अज्ञ टालने के हेतु करे 'मैं' से प्रीत।

टले पै जन्मे वही सुख रस के हेत;

हो मुक्त धीर रहे जो दो में सचेत।।

(21)

जैसे–जैसे जन्मे बन्धन विकार,

तैसे–तैसे जिसने सीखा करना परिहार।

उसका क्षण–क्षण बन्धन मिटता ही जाय;

तैसे नव–नव मुक्ति सुख भी सुहाय।।

(22)

बाहर राखे शील अन्दर राखे सही ध्यान,

दु:ख को परिहरे जनाकर सही ज्ञान।

ऐसे वैसे दु:ख से रहे न भयभीत;

तुच्छ सुख त्यागे, राखे तप से भी प्रीत।।

खण्ड - 6 (स)

मुक्ति प्राप्ति के लिए पाँच शक्तियों को बढ़ाने के प्रयत्न करना

(To activate five powers of liberation)

(1) श्रद्धा (Faith in God)

(2) वीर्य (Energy)

(3) स्मृति (Mindfulness / alertness of mind) (खण्ड - 6 (ब) भी देखें)

(4) समाधि (Absorbed meditation with serenity)

(5) प्रज्ञा (Truth bearing knowledge/Super intelligence) (खण्ड - 6 (अ) भी देखें।)

(1)

अच्छे लागें विषय, शुभ तेरे ध्यान,
संग, घाटे का है सौदा, तू पहचान।
बालक होते को, वैसे थे, यह बताये;
करो ध्यान, प्रज्ञा देखो क्या जताये?

(2)

सुख व शान्ति पाने के लिए प्रत्येक कर्म में स्मृति रखनी चाहिए। क्रोध, स्मृति को ठिकाने नहीं रहने देता। बाहर यह जो व्यापक जीवन है, इसी का नाम परमेश्वर है। इस व्यापक जीवन के बीच में हमारे से ऐसा कोई अपराध न हो जाये, जिससे हमारा मोक्ष का रास्ता रुक जाये। सब शास्त्रों का कहना है कि 'चेतन ही मुक्त है' और चेतन मन के बंधन कटते हैं। ज्ञान रूप चेतन द्वारा सब में सदैव अच्छा ही देखे।

(3)

समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य में ही ऐसी बुद्धि है जो सब वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में पहचान सकती है। यदि प्रकृति के अल्पकालीन सुख यदि दु:ख में ही बदलने वाले हैं, तो मनुष्य को चाहिये कि थोड़ा एकान्त में बैठकर ध्यान द्वारा सदा रहने वाले सुख को पहचानकर, उसे प्राप्त करने के लिए उपाय करे।

(4)

जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही समझना, यही सत्य का ज्ञान है जो अविद्या को जड़ से नष्ट कर देता है। यदि विवेक प्रकट हो गया अर्थात् सत्य का ज्ञान हो गया, तो मिथ्या ज्ञान-रूप अविद्या टल गई। अब साधक का मन विषय सुखों की ओर नहीं जायेगा, न उनको जानने व पाने के लिये वह बल, चिन्तन आदि का प्रयोग करेगा।

(5)

संस्कृत के महान कवि भारवि ने एक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ "किरातार्जुनीय" की रचना की है, जिसमें सब के अन्त में एक श्लोक की रचना की है जिसमें धर्म का मर्म डाला है अर्थात् जिसका सारा भाव धर्म का है। इस श्लोक में महाकवि

ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान (समाधि) व प्रज्ञा, इन पाँचों अंगों पर बल दिया है। सहसा (बिना विचारे) कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए अर्थात् हमेशा सोच विचार करके कार्य करें। सत्य असत्य को पहचानना विवेक है। इसलिये थोड़ी श्रद्धा रखकर थोड़ा सम्भलकर स्मृति रखके, विवेक से अपनी देह के आवश्यक कार्य करें। ऐसी अवस्था में संसार से हटा हुआ ध्यान अपने-आप में एकाग्र होगा और आपको अन्दर की शान्ति मिलेगी।

(6)

बुद्धि उस शक्ति का नाम है, जो कि निश्चय करती है कि "यह वस्तु इस प्रकार की है, इसका यह स्वभाव है।" सब प्रकार से कोई भी निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। मन वह है जो प्रकृति के कार्य—काम, क्रोध आदि विकार रूप ज्ञान से अंधा है। चित्त वह है जो बहुत बारीकी में चिंतन में बसी हुई वस्तुओं के लिये बैठा रहता है। सुख देने वाली वस्तु बारीकी में चिंतन में बसी हुई है और चित्त उसको अपने मन में समेटे हुए है। मन और चित्त के भाव ही इस देह का निर्माण करते हैं।

(7)

स्मृति बल है द्विविध मन की उपस्थिति। जो कुछ भी तन, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि की अवस्था हो, उस सब अवस्था (दुःख और सुख) का मनुष्य को ज्ञान रहे और पुनः ऐसी अवस्था में क्या कुछ हो सकता है, यह इसकी स्मृति व याद भी रहे, तो वह वीर्य (उद्योग) बल से अनुचित, मोक्ष मार्ग के विपरीत मिथ्या कर्म, मिथ्या वचन व सब प्रकार का मिथ्या व्यवहार यत्न से रोक सकेगा। समझना ही तो बुद्धि का काम है, फिर समझकर मन व इन्द्रियों और शरीर को उसी दिशा में ले जाना, यह सब जगत् में व्यवहार के रूप में प्रकट होता है। इसलिए बुद्धि क्या कुछ समझती है, इसमें भी उपस्थिति बनी रही और स्मृति, कर्त्तव्य तथा उनके परिणामों के बारे में भी बनी रही, तो वह प्राणी विपरीत बुद्धि से भी वीर्य बल द्वारा भी मुक्त रहेगा। सार में सम्प्रज्ञान (मन की उपस्थिति) व स्मृति को बनाये रखना, विपरीत कर्मों को टालने के लिए मन की स्मृति या मौके की होश उस समय बनी रहनी चाहिए जिससे कि कोई विपरीत कर्म आदतों के

वशीभूत होते हुए मन न कर सके।

(8)

ज्ञान के बिना कोई क्रिया नहीं होती है। यह ज्ञान ही है जो सारे विश्व की प्राण-शक्ति को उचित दिशा में प्रेरित करता है। इसलिये यदि ज्ञान शुद्ध है, तो क्रिया भी शुद्ध है। जैसी क्रिया होगी, वैसे ही अन्न जीर्ण (हज़म) होगा। ज्ञान पवित्र है, तो उसी के अनुसार प्राण भी पवित्र है, तो सारे अंग भी सही ढंग से कार्य करेंगे व उनका निर्माण भी ठीक होगा। इन अंगों को कोई दु:ख नहीं होगा। वह मुक्त-देह कहा जायेगा। अन्तरात्मा का सुख सब के अन्दर समान रूप से है। पर सुख को प्रकृति के बन्धन अविद्या आदि से ढक रखा है, जो अविद्या टलते ही मनुष्य के अन्दर प्रकट हो जाता है। जिस-जिस के अन्दर यह सुख प्रकट हो जायेगा, तो समझो ! भगवान् वहाँ प्रकाश-रूप में आ गया।

(9)

प्रज्ञा नाम सत्य के ज्ञान का है। सत्य का वह ज्ञान जो सामान्य रूप से साधारण जन के लिए छुपा हुआ रहता है। पर इन्द्रियों के क्षेत्र को पार करके, मनोयोग द्वारा ध्यान में काफी छान-बीन करने पर प्राप्त होता है। इस सत्य के ज्ञान को 'प्रज्ञा' कहा जाता है, अर्थात् "शोध कर निकाला गया ज्ञान", जो उपर से तो कुछ और मालूम होता है परंतु सम्यक् (भली प्रकार से) विचार करने पर ध्यान द्वारा कुछ अन्य ही निकलता है या अपने वास्तविक रूप में प्रकट होता है, यह प्रज्ञा है।

(10)

जब तक वस्तुओं में दीखे है अच्छाई,
तब तक मन जगत् में ही करे है घुमाई।
प्रज्ञाओं ने प्रकट हो किया जो भांड़ा फोड़;
मन टिका आत्मा में जग से नाता तोड़।।

(11)

मन को अच्छा लागे सो बढ़ाये रोग और शोक,

पर मन को ही लगाये जो अच्छा, कौन लगाये रोक ?

तब ध्यान चिंतन से अपने मन को सत्य सुझाय;

प्रज्ञा के नाम से मुनिजन इसी को ही गाय।।

(12)

बिन सम्यक् ध्यान के प्रज्ञा हो न कबहुँ प्रकट,

बाहिर विषयों के क्षेत्र में, तृष्णा ध्यान रुलाये।।

सह ले भरपूर 'जन' तब सब संकट विकट;

अभाव में दुर्भर क्योंकि जीवन न सुहाय।।

(13)

समाधि का अर्थ (शब्दार्थ) है समाधान, अर्थात् मन को भली प्रकार चारों दिशाओं से निवृत व मोड़कर किसी एक विषय में या अर्थ में स्थित करना या धारण करना। ऐसे में मन बाहर न भटककरकर अपने अन्दर ही विचार करने में लगा रहता है। आध्यात्मिक सफलता चाहने वाले का यह विशेष विषय कौन-सा होना चाहिये ? सांसारिक बंधन जो मन को बाँधने वाले हैं, तनाव उत्पन्न करने वाले हैं, उन्हें साधक धीरे-धीरे जगाकर, उनके परिणामों को सोचकर धीरे-धीरे मुक्त होता जाए, तो ऐसे में जो कष्ट हो उसे सहन करे, मन को शंकाओं से हटाकर अन्दर केन्द्रित करना यह सब समाधि का ही क्षेत्र है। तो इसमें सबसे पहले तो अपने जीवन का ही ध्यान (आत्म निरीक्षण) करना है कि मैं जो कर रहा हूँ वह भला है या बुरा ? इसके लिए शास्त्रों में वर्णित या सर्वज्ञ गुरु के बताए हुए नियमों में पूर्ण श्रद्धा रखे और फिर आसन पर बैठकर मन को सब ओर से मोड़कर चिन्तन करे।

नियमानुसार आगे बढ़ते रहना होगा। धर्म के जीवन पर चलने के लिए सबसे मुख्य उसमें श्रद्धा है, अन्यथा उसे अविश्वास सदा घेरे रहेगा। बस! जीवन की साधना के लिए आवश्यक श्रद्धा रखते हुए चलते जाना है।

(17)

श्रद्धा नाम मन के उस सात्विक भाव का है, जिससे मनुष्य के अन्दर तर्क वितर्क व कुतर्क, उसके भले के रास्ते चलने वाले विश्वास को पीड़ित नहीं करते। जैसे कुछ कल्याण और दुखों से भी मोक्ष का मार्ग पढ़ने व सुनने में आता है और उसी में अपने मन को "ऐसा ही सत्य है", इसका ही विश्वास करके उस रास्ते पर चलने की हिम्मत या उद्योग करवाने वाला जो मन का सरल सादा भाव है, उसी को श्रद्धा कहा जाता है। यह श्रद्धा सबसे प्रथम तो उस भगवान् में होती है, जो कि परम कल्याण का धाम है क्योंकि वह ही पहुँचने का स्थान है। वह दीखता तो है नहीं, तर्क-वितर्क से भी नहीं निश्चय किया जा सकता। पर जिन्होंने इस सत्य को अपने तप, त्याग व परिश्रम से प्रत्यक्ष रूप से पाया है, केवल उन्हीं के ध्यान में वह आता है। अपने मन को उस भगवान के सम्मुख शिथिल कर देना, या ढीला छोड़ देना, ताकि उसमें विश्वास होकर भगवान के रास्ते पर चलने की प्रेरणा मिले। यह प्रेरणा श्रद्धा के बिना नहीं हो सकती। प्रेरणा बिना चला भी नहीं जाता।

(18)

जब सत्य के रास्ते पर चलने का उद्योग कोई प्राणी श्रद्धा से करता है, तो इसमें मन का पूर्ण न्याय संगत (युक्ति-युक्त या तर्क-संगत) विश्वास बनता जाता है और फल की प्राप्ति हो जाती है; तो ऐसे में श्रद्धा तो अनभिज्ञ (अनजान) प्राणी को रास्ते पर चलाने के लिए है। परन्तु जब वही प्राणी चलकर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, तो श्रद्धा भी प्रत्यक्ष विज्ञान रूप में बदल जाती है। यही सब भगवान् के रास्ते में श्रद्धा का महत्व है। यहाँ पर तो केवल परमपद पर पहुँचा हुआ भगवान और उसी के रास्ते पर चलने-चलाने वालों के धर्म की श्रद्धा का ही स्थान है, दूसरी श्रद्धा का नहीं।

(14)

उत्तम जीवन की शुरूआत पहले श्रद्धा से करनी है, साथ ही जीवन में कुछ बदलाव जैसे जीव हत्या, चोरी, झूठ आदि पाप कर्मों का त्याग व नियम से खान-पान करना होगा। मन की अवस्था को पहचानना अर्थात् स्वाध्याय या अपना अध्ययन भी अति आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मुक्ति का मार्ग नहीं मिलेगा। अन्दर की पढ़ाई जो साधक उद्योग द्वारा कर लेता है, वही विकारों के भड़कावों को ज्ञान द्वारा टाल पाता है।

(15)

विकारों के भड़कावों को समझने के साथ-साथ उनको सहन करते हुए टालने की आदत ही बना लेनी है। यदि छोटे त्याग से बड़ी हानि टालती है, तो छोटा त्याग खुशी-खुशी कर लेना चाहिये। तो सबसे पहले इन मान, अहंकार, द्वेष, क्रोध इत्यादि के भड़कावों या जोशों को अपने घर वालों के बीच में ही बुद्धि को साथ रखते हुए सहन करना सीखले, तो उस मनुष्य को बाहर बिना किसी विशेष यत्न के ही ये सब सहन करने में आ जाएंगे। इनको टाले बिना मनुष्य का कल्याण संभव नहीं।

(16)

धार्मिक जीवन के रास्ते पर चलने के लिए पहले-पहल थोड़ी श्रद्धा की आवश्यकता होती है, कारण मन तो बाहर संसार के पदार्थों तथा प्राणियों में ही बचपन से ही उलझा हुआ है, उन्हीं में अपना सुख व भला समझता है, तो ऐसे में वह अपने-आप में धर्म के रास्ते पर चलने की कैसे सोच पायेगा ? पर धीरे-धीरे आयु बढ़ने पर उसे पता चलता है कि केवल आदतों (प्रकृति) के अल्पकालीन सुखों से ही काम नहीं चलेगा तथा और ज्यादा सुख भी चाहियें जो टिकने वाले भी हों। तो ऐसे में यदि कोई मनुष्य कुछ श्रद्धा रखकर उस मार्ग पर चल पड़े, जिस पर चलकर पूर्व में महात्माओं व ऋषियों ने अकेले में ही अपने अंदर ध्यान में ही विशेष सुख देखा हुआ है, तो यह उनका बताया हुआ रास्ता ही सही धर्म का रास्ता मानते हुए, विश्वास व हिम्मत रखकर नियमानुसार आगे बढ़ते रहना होगा। धर्म के जीवन पर चलने के लिए सबसे मुख्य उसमें श्रद्धा है, अन्यथा उसे अविश्वास सदा घेरे रहेगा। बस! जीवन की साधना के लिए आवश्यक श्रद्धा रखते हुए चलते जाना है।

खण्ड - 7

बोध (सत्यज्ञान) के सात अंग

(1) स्मृति (**Mindfulness/presence of mind**)

(2) वीर्य (**Right effort / right energy**) (खण्ड 6 (अ) भी देखें।)

(3) ध्यान (**Meditation**) (खण्ड 6 (अ) भी देखें।)

(4) सत्य की खोज (मीमांसा) (**Investigation to find out the Truth**)

(5) प्रसाद (**Gladness/pleasure**)

(6) प्रीति (**Love**) (खण्ड 6 (अ) मैत्री भी देखें।)

(7) उपेक्षा (**Affecting ignorance** towards sins and bad qualities of others) (खण्ड 6 (अ) भी देखें।)

(1)

दुर्बलता त्यागन को, हुये जो न तैयार,
फिर अन्त भले से तेरा, क्या सच्चा प्यार ?
समय एक का तो जाय, दूजा हाथ भी न आये;
झूठा ले भी सहारा, पर पाछे पछताये।।

(2)

हो इसी के निमित्त जीवन,
या का अन्त भला है नाम।
बिनु अल्प हित के विषय बन;
सदा आवे किस के काम।।

(3)

कुछ कष्टमय भी जीवन,
जो दे 'अन्त भले' से मिला।
उस बहु सुख से भी बड़ा धन;
जो दे अन्त में दु:ख में रुला।।

(4)

जैसा ही ज्ञान वैसी ही उसके पीछे कृति अर्थात् क्रिया-शक्ति। यदि ज्ञान बाहर किसी भी अभिप्राय से उलझा हुआ है अर्थात् बंधा हुआ है, तो उसी के अनुसार ही अन्दर क्रिया-शक्ति काम करेगी; उसी के अनुरूप रोग, व्याधियाँ व शोक इत्यादि पैदा करती जाएगी तथा जैसे-जैसे वह उससे मुक्ति पाता जाएगा वैसे-वैसे उससे छुट्टी होती जायेगी क्योंकि मुक्त ही ज्ञान और मुक्त ही उसकी क्रिया-शक्ति। यही सत्य ध्यान द्वारा हमें अपने अन्दर प्रमाणित करना है। इसके लिए साधक शान्त चित्त होकर, बाहर से थोड़ा मुख मोड़कर ध्यान में बैठे।

(5)

प्रबोध का अवसर यही सब बन्धनों का जोश,
स्मृति, वीर्य, ध्यान, योग से खोने न पाये होश।
बना रहे विवेक तो उत्तम प्रबोध पाये;
खोया विकार धार में भव पार कैसे जाए?

(6)

कुछ भी यहाँ के दु:ख से, जो बन गया सो भव,
जो कुछ बना न स्थिर रहे, मिटे जो सो विभव।
बार-बार होके मिट जाना, न सुख कभी;
निकल सके पर कोई, शान्त बोध हो जभी।।

(7)

विपरीत छन्द में स्मृति जो रह गई, 'स्मृति' ही इसको जान,
सब तब विकार पराक्रम से मिटा दे, 'वीर्य' भी उसे बखान।
टिके जो तब ही 'ध्यान' वही है, सत्य की करने को खोज;
सत्य ज्ञान निर्मल सोई 'प्रज्ञा' दु:ख में अमृत भोज।।

(8)

सत्य ज्ञान के सात अंग हैं जिनको अपने अन्दर बसाना पड़ता है। ये सात अंग हैः स्मृति, वीर्य, ध्यान, मीमांसा, प्रसन्नता, प्रीति और उपेक्षा। धर्म के मार्ग पर चलते हुए पहले-पहल साधक को जब बाहर के सुखों को छोड़ना पड़ता है, तो उसके कारण मन बहुत दु:ख मानता है। ऐसे में सत्य की खोज (मीमांसा) ही ध्यान द्वारा उसको सही रास्ते पर थामे रखती है। चाहे सेवा कर्मी हो या अपना व्यवसाय करने वाला हो, सफलता के लिए उद्योग करना ही पड़ता है, तो उसमें थोड़ा कष्ट होना स्वाभाविक है। इस प्रकार ध्यान द्वारा सच्चाई का ज्ञान होने पर उसका मन उस तंगी (दु:ख) से बेपरवाह हो जाएगा। इसी का नाम 'उपेक्षा' है। फिर लग्न से अपने कर्तव्य पालन में लग जाएगा, जिसे 'प्रीति' कहते हैं। प्रीति आने से दु:ख भी समाप्त हो जायेगा, तो ऐसे में वह मन में 'प्रसन्नता' भी अनुभव करेगा।

(9)

धर्म के रास्ते पर चलने हेतु इन तीनों (प्रसन्नता, प्रीति व उपेक्षा) को बनाये रखना है जिसके लिए प्रथम चार–स्मृति, वीर्य, ध्यान तथा मीमांसा–का सहारा लेना पड़ेगा। दु:ख आने पर मनुष्य अपने मन में हाहाकार न मचाकर बल्कि स्मृति बनाए रखकर ध्यान में दु:ख के कारण को खोजने की कोशिश करे और तितिक्षा से काम ले अर्थात् मन को शान्त रखता हुआ हिम्मत से दु:ख को सहन करने का अभ्यास बढ़ाता जाए। इस प्रकार खोज-खोज कर यदि साधक सत्य का ज्ञान जगाते रहे, तो प्रसन्नता, प्रीति और उपेक्षा उसके साथ सदा बने रहेंगे तथा वह दु:ख आ पड़ने पर बिना उसकी परवाह किये उस दु:ख को सहन कर लेगा।

(10)

चक्षु आदि की दृष्टि व्यर्थ में न जाए,
अपनी स्मृति में एकाकी रहना ही भाए।
हर कर्म में संयम साधन की लगन;
देवे सत्य ज्ञान कर दे ध्यान मगन।।

(11)

अधूरे रहे मिथ्या काम का संताप,
तप भाव से ही धोए चढ़ा इसका पाप।
रुग्ण काया का दृष्टान्त, धैर्य को सिखाए;
समय यापन करता रहे, शीघ्र सुख पाए।।

(12)

धीरे–धीरे उन्नत होगा ध्यान,
पावे दिव्य गुप्त वस्तुओं का ज्ञान।
पर प्रथम हो ललचाया हुआ मन;
सही उलझे, निश्चय फंसे काम के (ही) वन।।

(13)

अधूरी रही तृष्णा अबोध को फैलाये,
बढ़ी चढ़ी तृष्णा अधूरी ही रह जाये।
पूरी जितनी हुई खिले, हर्ष की कली;
शीघ्र छाये तम, खो दे ज्ञान वह बली।।

(14)

टलती रहे अविद्या जो होता रहे बोध,
चैन, पर लेने न दे संशय, काम, क्रोध।
राग चित्त, द्वेष चित्त, मोह चित्त छाये;
शोक, रंज, मान, संग, अविद्या फैलाये।।

(15)

सदा रहे स्मृति क्षण (इक) चूक जो न जाये,
होता रहे बोध, अबोध अवसर न पाये।
जैसा है कुछ वैसा जाने, लादना न भार;
चाहे जो भला तो जाना भव के पार।।

(16)

सत्य का ज्ञान होने से साधक को धर्म के मार्ग में आने वाली अड़चनों की भी सही जानकारी अर्थात् पहचान होगी, जिसका अन्तिम फल है संसार के बंधनों से मुक्ति अर्थात् छुटकारा। इस प्रकार मुक्त हुआ मन अपनी निकट से एकत्रित की हुई शक्ति द्वारा परमात्मा के आनन्द अर्थात् परमानन्द को प्राप्त करेगा। यह अन्तरात्मा का सहज स्वाभाविक आनन्द है, जो जीवन में पाने योग्य सबसे उत्तम वस्तु है।

(17)

साधक ध्यान में सत्य ज्ञान को जगाकर अपने सब बंधनों को पहचाने तथा फिर उन्हें त्यागने का उद्योग करना चाहिए। इस पूर्ण फल की प्राप्ति हेतु धर्म के तीन स्तम्भों अर्थात् कर्म, भक्ति या ध्यान और ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार धर्म का पालन करता हुआ, सब तरफ़ से मुक्त होकर अपने अंदर आत्मा

और परमात्मा का सुख भोगता हुआ वह सदा के लिए निर्भय तथा संतुष्ट रहने वाला होगा।

(18)

ध्यान लगने पर साधक को जीवन के सत्य समझ में आने लग जायेंगे, कि उसका जीवन किधर जा रहा है? वहाँ उसे क्या मिलेगा, कोई सार वाली वस्तु या बने रहने वाला सुख? यदि वह नहीं तो वह सदा बने रहने वाला सुख और वह सार वाली वस्तु क्या है? यह सब सत्य केवल मनुष्य को ही प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि ईश्वर ने सभी प्राणियों में केवल मनुष्य को ही बुद्धि प्रदान की है जिससे वह सोच समझ कर निर्णय लेकर कर्म कर सकता है, जो अन्य प्राणियों के लिए संभव नहीं है। इस ध्यान को बढ़ाने हेतु कर्म की भक्ति भी करनी पड़ती है तथा मिथ्या कर्मों का बहिष्कार भी करना होगा क्योंकि जब तक यह संसार को समझने की आदत पड़ी हुई है तब तक यही सारे संस्कार अन्दर बैठे हुए जन्म भर मनुष्य को ध्यान की कक्षा में प्रवेश नहीं करने देते।

(19)

पुस्तकों को पढ़ने व सत्संग के लाभ से मिला ज्ञान सीमित ही रहता है। यदि प्रभाव डालने वाला ज्ञान जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो जाए, उसे पाना है, तो मनुष्य को अपने अंदर गहराई में जाकर, जीवन के सत्यों का ज्ञान तथा आत्म चिन्तन करना पड़ेगा। पढ़ने, सुनने का ज्ञान तो अधूरा ही है। संसार से मन टलने पर तो मन में अन्धकार छा जायेगा। यदि इस अन्धकार को आपने जगा लिया, तो ध्यान के विकसित होने की नींव बननी शुरू हो गई। ऐसे में सत्य समझ में आने लगेंगे तथा साधक का जीवन सही दिशा में चल पड़ेगा।

(20)

किसी भी दिशा या पदार्थ में मन को एकटक, निरंतर अर्थात् अटूट रूप से जोड़े रखना, इसका नाम 'ध्यान' है अर्थात् उसको छोड़कर दूसरी ओर मन न जाए। जहाँ मन अटूट रूप से टिका रहेगा, उस वस्तु के बारे में पूर्ण सत्य का ज्ञान होगा, उसी ज्ञान का नाम 'प्रज्ञा' है। जैसे किसी वस्तु की तृष्णा मन में होने पर उसकी कमी दुःख रूप से प्रतीत होती है, तो इस दुःख को महसूस करता

हुआ जागता हुआ रहे, तथा उसमें संशय, इच्छा, क्रोध के बिना टिका रहे, तो इससे तृष्णा के दु:ख का परिहार हो जायेगा। जब तृष्णा की शान्ति हो जाएगी, तो शांत सुखी जागता हुआ मन बुद्धि को भी जगा पाएगा।

(21)

मींमासा (विचार) तब तक पूरी नहीं होती, जब तक वह 'अन्धकार' नहीं जागता। यह जो बाहर का मन है, जिस समय आप इस संसार से मुँह मोड़ते हैं, तो यह नींद की तरफ धकेलता है, और आप निद्रा को झटपट लेने को तैयार हो जाते हैं। आपसे नींद नहीं जीती जाती। नींद टूटने पर यह मन संसार के विकार जगाने लगेगा। उस अवस्था में आप निर्णय (फैसला) करें कि जिधर के विकार यह मन जगा रहा है, उसमें अन्तिम भलाई है या नहीं? सही निर्णय रूप जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह भगवान् कृष्ण रूप है। असली भगवान का अवतार वहाँ होता है जहाँ आठों प्रकृति होती हैं।

(22)

यहाँ आठ प्रकृति से तात्पर्य पाँच ज्ञानेन्द्रिय: कान, आँख, नाक, जिव्हा और त्वचा और जिनकी पाँच तन्मात्राएं : शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध हैं, छठा यह मन (अहंकारी रूप में मैं वाला) और सातवाँ उसकी बुद्धि है। इसके अलावा आठवाँ वह जो अन्धेरा है, जिस अव्यक्त (अंधेरे) में जाकर यह सब छुपते हैं, इसी का स्वरूप निद्रा है। निद्रा का स्वरूप अंधेरा या अज्ञान है। इस अंधेरे में यह मन सब बवाल लिए बैठा है। जहाँ इन पाँचों से मुँह मोड़ा और बुद्धि ने बाहर की अच्छाई-बुराई का निर्णय नहीं किया और फिर यदि अन्धकार में आप जन्म गये अर्थात् निद्रा को जीतकर उसमें छिपे विकारों को आप पहचान गए, तो वहाँ पर यह ज्ञान जन्म करके प्रत्यक्ष देखने लगेगा कि क्या वस्तु मेरे भले की है या बुरे की है। यहाँ का जन्मा सच्चा ज्ञान भगवान् कृष्ण रूप है। वह खींच करके संसार के चक्करों से बाहर निकाल देगा।

(23)

इस प्रत्यक्ष ज्ञान (बोध) के सात अंग हैं: (1) मन में प्रसन्नता बनी रहे (2) जीवन में प्रीति बनी रहे (3) मन में अखरने (बुरी लगने) वाली वस्तुओं व

स्थितियों से उपेक्षा (बेखबरी) हो जाए। पर यह तब ही होगा, जब आप ध्यान के साथ विचार को जगा सकेंगे और उसकी खोज़ (पड़ताल) करके वास्तविक (असलियत) तक पहुँच सकेंगे, जिसे मीमांसा कहा गया है। पर ये ध्यान तथा मीमांसा भी तब ही होंगे, यदि विकारों को टालते हुए आपकी स्मृति (होश, सोधी) बनी रहे, (4) स्मृति (5) वीर्य (हिम्मत) (6) ध्यान और (7) मीमांसा (विचार)। इनके बने रहने पर मन में खुशी भी आ जायेगी; जीने की प्रीति भी आ जाएगी और अपने मन में प्रकृति का विरोध करने की जो तंगी है, उससे मन बेपरवाह भी हो जायेगा। तो साधक को इस ढंग से जीवन साधना है।

(24)

जन संग, विषय संग कर के त्याग,

बसे जो एकान्त, ध्यानी होये महाभाग।।

अबोध और संस्कार करें जो आक्रान्त;

प्रीति और प्रसाद जाये उपेक्षा हो भ्रान्त।।

(25)

भानु भासे बोध का, या क्षण मन में,

जीवन की प्रीति खोयी, तत्क्षण आये।

लुप्त जो प्रसाद वह भी फिर से सुहाये;

व्यर्थ के विषाद को दे उपेक्षा भुलाये।।

(26)

नहीं धर्म्य अभाव है अभाव मृतक,

उपयुक्त वस्तु के संग को न कोई हटाये।

पर प्रसाद से जो होवे चूक शतक;

उससे नर्म में रत हो, जब साधन गंवाये।।

(27)

सम्यक् श्रुत को नहीं अराधा,

और भद्र तपश्चर्या न करी ?

सम्यक् प्रबुद्ध को वह कैसे जाने ?

उन्हें सूझे क्या ? उनके जन की ।।

(28)

उन्नति के एक तरफ लग रहे ऊँचे ढेर,

छाये रहा दूजी दिशा, केवल घना अंधेर।

या में सत्य भासा नहीं, न अन्त भले का नाम;

ऐसा जीवन आयेगा भला क्या किसी के काम ?

(29)

न भद्र ही दुःख का अति वर्जना,

भला वैसे न सुख का अभिगमन।

राग-द्वेष दो अन्त में बाढ़ें;

बोध से हान हित तप है शमन।।

(30)

जप करने में यदि मन लग जाए और इसमें आपकी प्रीति भी उत्पन्न हो जाए, तो फिर आपको संसार की किसी भी वस्तु को समझने की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें यदि अविद्या टलती रहे, तो अपने-आप में सुख का अनुभव होता रहेगा। यदि अकेले में यह अपने-आप की (अन्दर की) विद्या आ जाए और बढ़ती-बढ़ती यहाँ तक बढ़ जाए कि वह सच्चिदानन्द , जो सब के अन्दर एक रस या एक रूप में बैठा है, अपने अन्दर ही प्राप्त हो जाए और उसका सुख भी

अपने अन्दर प्राप्त हो जाए, तभी इस जीवन की सफलता है। शास्त्रकार ऐसे

सुख मिले हुए मनुष्य को कहते हैं कि 'वह पूर्ण हो गया'। यहाँ तक मनुष्य को चलने की हिम्मत करनी चाहिए। उस परमेश्वर के रास्ते की चलाई केवल श्रद्धा से ही शुरू होती है।

(31)

प्रारम्भ में आप अनुभव करेंगे कि ध्यान में बैठकर जब आप जप करते हैं, उस समय मन तो बाहर ही भागता रहता है, कारण कि मन चाहता है कि वितर्क और विचार रूप ध्यान दोनों को जोड़कर चले, अर्थात् जैसा शब्द बोला गया है, उसी के अनुसार सोचें भी। पर होता है इसके विपरीत ही यानि हमारे अन्दर विर्तक (शब्द) तो कहीं का है, और सोच कहीं और की (बाहरी संसार की बातों की) आ रही है। ऐसी अवस्था में जप (वितर्क) और विचार एक विषय के बारे में नहीं है अर्थात् जप तो भगवान के नाम का करना और विचार संसार की बातों का करना, ये दो अलग तथा विपरीत दिशायें हैं। मन का एक ही दिशा में एकाग्र होने पर आत्मा का सुख मनुष्य को मिलता है। इसके लिये भगवान् के गुणों का लगातार चिन्तन करते रहना और उनको अपने में बसाने का यत्न करना भी जप के साथ आवश्यक है।

(32)

ध्यान के पाँच विघ्न हैं, जिनमें पहला विघ्न है- दृष्टि, जो आपको एकान्त में बैठने नहीं देती साथ ही ध्यान को जमने भी नहीं देती। इस उलझी हुई दृष्टि (नज़र) के साथ ही जुड़े हुए संशय, इच्छा और क्रोध यह चारों मनुष्य के मन में ऐसे घूमते रहते हैं कि किसी समय भी उसके मन को चैन नहीं लेने देते। और जब कभी इन सबसे छुट्टी मिलती है, तो फिर नींद और आलस्य (सुस्ती) आ घेरता है। तो इन पाँच विघ्नों को हटाने पर ही ध्यान जमेगा और सत्य ज्ञान

उपजेगा।

(33)

वितर्क का अर्थ है शब्द बोलना, परन्तु शब्द बोलना, जड़ अर्थात् ज्ञान शून्य नहीं होना चाहिये। जड़ का मतलब यह है कि आलस्य सुस्ती में दुनिया में मन भटका हुआ है। ऐसे में जो जप होगा वह कोरा जप ही होगा अर्थात् जप प्रभावशाली व पुण्य वाला नहीं होगा। चेतन मन से, भगवान् का स्मरण करें कि "भगवान क्या है तथा उनके कौन-कौन से गुण हैं"। साथ ही मन से बोले जा रहे शब्दों के अर्थ का भी चिन्तन करें कि इन शब्दों का भावार्थ अर्थात् गूढ़ अर्थ क्या है? यही अर्थ का चिन्तन ही ध्यान या स्मरण है, जिससे मन जागता रहेगा। अभ्यास से यदि मन बाहर न भागे व चिन्तन में मन लग जाए और आपको अनुभव भी हो जाए, कि मन बढ़िया लग रहा है, तो समझो! ध्यान के साथ प्रीति भी जाग गई अर्थात् वितर्क, विचार व प्रीति वाला ध्यान बन गया।

(34)

भगवान ने केवल मनुष्य को ही सोच समझकर, विचार के साथ काम करने हेतु बुद्धि प्रदान की है कि वह भले-बुरे में अन्तर जान सके, अन्य प्राणियों में नहीं। *"धर्मो रक्षति रक्षित:"* अर्थात् आप धर्म को रखो, आपको ये धर्म रखेगा। यह उत्तम मार्ग भी शास्त्रों में बताया गया है। धर्म का मतलब है धारण करना अर्थात् अपने को धारणा। तो ऐसे जीवन के लिए थोड़ा तप अर्थात् कष्ट भी सहना होगा, पर खोटे रास्ते नहीं जाना चाहे वह कितना ही लुभाने वाला क्यों न हो। साथ ही शास्त्रों द्वारा बताया गया नियम - *"एक काम एक ध्यान"* अर्थात् जो काम है उसी में मन जोड़कर काम करे, और मन जोड़कर काम करता हुआ समझ के साथ रहे अर्थात् बुद्धि हाजिर रहे।

(35)

"एक काम, एक ध्यान" का नियम प्राणी को इधर-उधर भटकने से बचाता है। इसी प्रकार सब काया के कर्मों को स्मृति से मन की उपस्थिति में करने का अभ्यास करना होगा, तो ही उसे ध्यान प्राप्ति और सफलता की भी प्राप्ति होगी।

जैसे काया के बारे में (1) उनके कर्मों को स्मृति में, मन की उपस्थिति से व ध्यान से करने का महापुरुषों का निर्देश है, ऐसे ही इन्द्रियों की चेष्टाओं में (2) मन के भावों व विकारों में (3) बुद्धि के सब निश्चयों में भी सावधान रहे। इसी प्रकार (4) सुख संवेदन व (5) दुःख संवेदन में भी मन की उपस्थिति व स्मृति बनी रहनी चाहिए; क्योंकि दोनों में भी विपरीत निश्चय देकर और मन विपरीत भाव व विकार जनाकर इन्द्रियों और देह को मिथ्या मार्ग में पटक सकते हैं। इसलिए ऊपर बताए पाँचों स्थानों में उपस्थित रहकर और स्मृति रखकर जीने की इच्छा करे, तो कुछ भी विपरीत नहीं होगा। स्मृति रखने वाला मनुष्य ही धर्म के मार्ग पर चल सकता है।

(36)

काम विविध संग, भव भी भागे, शम सुख पावे जीव;
ज्ञान ही कोरा (केवल), कबहुँ भी दीखा, सब की वह है नींव।।

(37)

मन में प्रीति व प्रसाद सदा छाय,
जीवन निर्निमित्त भी तो भी सुहाय।
बिछुड़ सबसे निज में मिल गया जो सुख;
फिर तो मौत भी करे क्या उसका दुःख।।

(38)

पूर्व में धर्म मार्ग में बोध की आवश्यकता की बात कही गई थी, जिसे थोड़ा विस्तार से उसे समझना है। बोध के सात अंग हैं (1) स्मृति : मन की उपस्थिति, मन की अवस्था का ज्ञान व कर्त्तव्य की याद बनी रहे (2) वीर्य (बल) भी बन सके जिससे मन के भटकावों को रोककर, आसन, पूजन में मन लग सके। (3) ध्यान में भी साधक प्रविष्ट हो सके, शब्द द्वारा विचार (भाव) जगाकर मन को एकाग्र अवस्था में लाने निश्चय करे कि (4) सत्य की

खोज (शोध, मीमांसा) पूर्ण रीति से बन पाये। इससे जब सत्य प्रकाश में आयेगा, तो मन की सब भ्रान्ति दूर होकर (5) प्रसाद मन में छा जायेगा, अर्थात् विषाद नष्ट होकर मुख प्रसन्न दीखेगा। इसी प्रकार (6) प्रीति, मन में अपने-आप साधना में नित्य प्रीति आ जाएगी जो सदा बनी रहेगी। (7) उपेक्षा से तात्पर्य है मन की अनावश्यक सोच से मुक्ति अर्थात् उपेक्षा भी सहज स्वभाव में होकर साधक के मन को अनावश्यक सोचों व विचारों के चक्र में नहीं पड़ने देगी। यही बोध के सात अंग हैं। इसकी भक्ति से साधक सदा सुरक्षित अपने मार्ग में व अपने आध्यात्मिक जीवनचर्या में सफल उतरता है।

खण्ड - 8
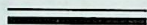
विविध

(1) ब्रह्म (Cosmological Consciousness)

(2) परमात्मा (God, organised whole), ईश्वर (Perfect enlightened soul), भगवान

(3) जीव (Living Being)

(4) आत्मा (Soul, consciousness in particular)

(5) माया (Divine Dynamism)

(6) प्रकृति (Nature)

(7) धर्म, धर्म का मार्ग, धर्म के तीन स्तंभ (Right Path)

(8) तृष्णा (Insatiable worldly passion)

(9) मुक्ति (Freedom from Worldly Bondage/ Deliverance)

(10) ज्ञान (Knowledge), विद्या (Practical Wisdom of right knowledge)

(11) पुण्य (Divine Merit) व पाप (Sin)

(12) कर्म (Right or Wrong deeds)

(13) भाग्य (Luck / Destiny)

(14) पुरुषार्थ (End to achieve by Human Efforts)

(15) संस्कार (Impressions)

(16) वासना (Established past deeds)

(17) विवेक (Right knowledge)

(18) वैराग्य (Dispassion)

(19) तप (Austerity practice)व तितिक्षा (Endurance), त्याग (Renunciation)

(20) क्षमा (Forgiveness) व क्षान्ति (Established forgiveness)

(21) सन्तोष (Contentment)

(22) नाम स्मरण व भक्ति (Reciting God's name, Devotion)

(23) दु:ख (Suffering)

(24) सुख (Pleasure) प्रसन्नता (Happiness)

(25) विभिन्न योग (Different Yogas)

(26) प्रजापति (Prajapati)

(27) बुद्धि (Intelligence)

(28) प्रमाद (Non-vigilance or Heedlessness)

(29) संन्यास (Renunciation)

(30) समाज में व्यवहार (Social Behaviour)

(31) गुरु, आदर्श शिष्य के गुण (Preceptor, Qualifications of a true disciple)

(32) स्वाध्याय (Introspection)

(1) ब्रह्म (Cosmological Consciousness) (खण्ड 3 भी देखें)

(1)

ब्रह्म नाम है जो अति-महान्, बहुत अधिक बढ़ा हुआ। अर्थात् जो व्यापक, परम महान् जो भी तत्व है वह ब्रह्म नाम से कहा जाता है, जिसे सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। यहाँ सत् का अर्थ है होना या अस्तिभाव अपनी हस्ती का। चित् नाम उस ज्ञान का है, जहाँ पर इन्सान को अपने-आप की समझ बनी रहती है। आनन्द नाम है दु:ख का न होना और जो उस अवस्था में दु:ख के अभाव वाला जो ज्ञान अपने-आप में भासता रहेगा, यही सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का है, अर्थात् हर किसी जीव के अन्दर भी यही सच्चिदानन्द उसका निकटतम अपना-आपा है या आत्मा है।

(2)

ब्रह्म नाम इसका है जो जीव के अन्दर सब बन्धनों से मुक्त और सर्व विकारों से रहित कर्म, क्लेश और दु:ख से रहित पवित्र ज्ञान अनन्त जागता हुआ दर्शन में आ गया, उसका दूसरे के अन्दर भी अभाव नहीं अर्थात् न होना नहीं है, पर यह जीव को अपनी शुद्ध बुद्धि के अन्दर ध्यान के द्वारा अनुभव करना पड़ेगा। यदि संसार के सभी जीवों के अन्दर क्या कीट, क्या पतंग से लेकर ब्रह्मा तक सब में एक समान यही दृष्टि में आये, जोकि सब उलझनों से परे और दु:ख से रहित है, तो समझो ! कि ब्रह्म साक्षात्कार हो गया।

(3)

ब्रह्म भाव को प्राप्त करने के लिए गीता में उपाय बताया है :

"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।"

अर्थात् काम, क्रोध, राग द्वेष, मान, मोह आदि का त्याग करके फिर निर्मम (ममता रहित) हो जाये अर्थात् उनमें अपना "मैं" पना नहीं रखे। तो इस प्रकार इन अवगुणों को त्याग कर आप अपनी आत्मा के साथ दूसरे की आत्मा का एकत्व यदि समझ जाते हैं, तो समझो, आपने परमात्मा को पहचान लिया है, यही ब्रह्म भाव है तथा आप इसके मार्ग पर चल पड़े हैं। ऐसे में यह धारणा बने

कि मैं ऐसी भक्ति (उद्योग) करूँ कि यदि मेरे से किसी का भला न हो सके पर मेरे से किसी का बुरा भी नहीं होना चाहिए। इसमें चाहे अपना सुख जाता है तो जाने दे। यही भक्ति योग है कि सब में समभाव रखना।

(4)

एक अवस्था जरूर ऐसी भी है जहाँ पहुँचकर मनुष्य देखता है कि वह किसी भी बाहर से पदार्थ व प्राणी पर निर्भर नहीं रहता और वह समझता है कि मैं बिल्कुल स्वतंत्र हूँ। इस स्थान का नाम ही अपनी आत्मा (अपना-आपा) है। जहाँ न संसार है, न कोई प्राणी या पदार्थ है, केवल ज्ञान रूप चेतन आत्मा ही क्षण-क्षण, नया-नया वहाँ अपने अन्दर से प्रकट हो रहा है। इसे ही विद्वान् व शास्त्रकार अद्वैत कहते हैं। यही आत्मा सब में समान रूप होने से सर्वव्यापक रूप से अनुभव में आता है। अद्वैत का अर्थ है, जहाँ कोई दूसरा नहीं है, केवल एक का ही भाव रहता है। स्वतंत्रता या सदा बनी रहने वाली मुक्ति का सुख केवल आत्मा में ही मिलेगा। इस स्वतंत्रता को इतना बढ़ाना है कि जो अपने अन्दर मुक्त स्थान अर्थात् एकान्त अवस्था में अपनी आत्मा को देखने में आ जाए; वही आत्मा सब के अन्दर भी देखनी है। इसी को ही ब्रह्म-भाव कहते हैं।

(2) परमात्मा (God, organised whole), भगवान, ईश्वर (Perfect enlightened soul) (खण्ड 3 भी देखें)

(1)

परमात्मा सभी जीवों की समष्टि का नाम है। समष्टि नाम सर्वरूप का है, जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते, जड़, तना, पुष्प, फल एवं बीज यह सब मिलकर वृक्ष कहलाता है। इसी का व्यष्टि रूप जैसे कि एक-एक अंग जैसे पत्र, पुष्प इत्यादि-इत्यादि एक-एक भाग हो। इसी प्रकार एक प्राणी अपने-आप में परमात्मा का एक भाग होता हुआ व्यष्टि रूप है और यह सारे प्राणी सब मिले-मिलाये उस वृक्ष के समान ही एक रूप से जुड़े हुए, अपने कर्मों के द्वारा एक दूसरे से ग्रंथित हुए-हुए और प्रभावित होते हुए व्यावहारिक कर्मों को

करते-करवाते हुए एक रूप से परमात्मा करके शास्त्रों में कहे जाते है।

(2)

परमात्मा केवल सब जीवों की समष्टि रूप से एक तत्व रूप ही है, उसमें अपनी उलझन इत्यादि कुछ भी नहीं है। ये सब उलझनें तो केवल जीव (प्राणी) भाव में है, जो दु:खी है। परमात्मा तो अपनी लीला से उन्हीं जीवों को अनन्त रूप में एक दूसरे में प्रतीत होकर अनन्त खेल खिलाता है। पर इसमें जानने की वस्तु केवल यह है कि जीव यदि अपनी आत्मा को पहचाने, तो उसको सब जीव भी समझ में आ जायेंगे तथा उन सब में समान रूप से वही तत्व दृष्टि में आयेंगे, जो उसे अपने-आप में दीखें हैं।

(3)

ईश्वर का नाम श्रेष्ठ सामर्थ्य का है, जिसमें दो प्रकार का सामर्थ्य जानने का है। ज्ञान और क्रिया। जीव जैसे-जैसे अपने हित और अहित को पहचानता है, जोकि विवेक के कारण मनुष्य योनि में ही संभव है, वैसे-वैसे वह ईश्वर के ज्ञान रूप सामर्थ्य को भी अपने-आप में बसाकर, कल्याण के हित में ही कर्म करता है और वैसे कर्म करने की शक्ति उपजाता है।

(4)

ईश्वर के दो बल हैं : हित-अहित को पहचानना और पुन: अपने हित को कर सकना और अहित को टाल देना। इन दोनों के साथ अर्थात् हित-अहित की पहचान और पुन: हित के कार्य करने से ईश्वर की भक्ति बढ़ती जाती है। ये दोनों सामर्थ्य जब बढ़कर अपनी पूर्ण अवस्था में जिसमें दृष्टिगोचर होते हैं, उसे संसार में भगवान् की संज्ञा देते हैं। यह भगवान् पूर्ण रूप से विद्या और अविद्या को जानने वाला होता है।

(5)

भगवान की भक्ति करने के लिए व प्रकृति के बंधन से मुक्ति पाने के लिये अपने सामने अपनी दृष्टि में एक ऐसा भगवान रख लो जो कि सर्वगुण सम्पन्न हो। ज्यों-ज्यों आप अपने दोष देखेंगे, त्यों-त्यों भगवान् की महत्ता तथा उनके गुणों की जानकारी आपको मिलेगी। इसका अर्थ यही है कि पहले अध्ययन

करने पर अपने दोषों की छानबीन करनी होगी, फिर ईश्वर से अपने दोषों के

विपरीत गुणों को पैदा करने की शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना करनी है। भगवान् के गुणों से प्रेरणा लेकर थोड़ा त्यागी व तपस्वी बनने का यत्न करते हुए अपने ज्ञान को भी बढ़ाते रहें क्योंकि ज्ञान बिना मनुष्य को सही मार्ग पर डालने वाला कोई नहीं है।

(6)

परमात्मा का सुमिरन (स्मरण) मन को जगाने के लिए किया जाता है और मोक्ष के अनुकूल साधा जाता है, जिससे कि संसार जाल से मुक्ति मिले तथा अनंत शान्ति प्राप्त हो। परमात्मा के नाम का उच्चारण व जप करके मन को एकाग्र करते हुए व्यापक तत्व का चिन्तन किया जा सकता है। नाम केवल मन के आलस्य आदि को हटाकर और संसार के चिंतन को छुड़ाकर उस अनन्त रूप परमात्मा के एक रूप का चिन्तन करने के लिये है। और 'तू-तू', 'मैं-मैं' के भेद को मिटाकर, उसके शांत और शुद्ध स्वरूप ज्ञान रूप ब्रह्म में टिक जाने के लिए है। इसलिये नामों के पृथक-पृथक होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता, महत्त्व तो चिन्तन व सुमिरन का ही है, जो नाम या शब्द द्वारा ही होता है। बस! नाम द्वारा पवित्र भावों को जगाकर अपने और दूसरों में एक समान एक ही विधान (कायदा) सब जगह काम करता हुआ दृष्टि में आये। इस सुमरिन से मनुष्य को परमानन्द प्राप्त होता है।

(7)

भगवान् का अर्थ है – छः ऐश्वर्य वाला चैतन्य पुरुष। शास्त्र में छः भग कहे गए हैं। भग नाम 'ऐश्वर्य' का है जिसका अर्थ है सामर्थ्य और शक्ति। यह छः ऐश्वर्य हैं: (1) विद्या का जानना (2) अविद्या को भी पूर्ण रीति से पहचानना (3) कर्मों का गति (कौन कर्म किस योनी या जन्म की ओर ले जाता है और कैसे गति को प्राप्त करवाता है)। (4) कर्मों की अगति (कोई प्राणी क्या कर्म करके इस वर्तमान स्थिति, जन्म या अवस्था को प्राप्त हुआ है)। (5) धर्म व (6) मोक्ष। भगवान् ही मोक्ष को बहुत निकट से साक्षात् अपने में स्वाभाविक रीति से पाता है अर्थात् दर्शन करता हुआ देखता है। यह मोक्ष, बन्धनों से छुटकारे का नाम है। भगवान् ही इन सब का मालिक अर्थात् स्वामी है और वह

ही आध्यात्मिक जीवन पर चलने का मार्ग प्रत्यक्ष रूप से दर्शाता है। समय-समय पर वह इस लोक में पृथ्वी पर प्रकट होकर स्वयं दृष्टांत (मिसाल) बनकर दूसरों को दर्शाता हुआ चलने के लिए प्रत्यक्ष रूप से मोक्ष के मार्ग के लिए प्रेरित करता है।

(8)

हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने हित की वस्तु पहचानकर वैसी रचना करें जो कम-से-कम हमारे लिए भविष्य में दुःख देने वाली न हो। उसको रचने के लिए आपको सब खोटे पापों से दूर रहना, सब अच्छे कर्म करना और मन की सफाई रखनी होगी। ये तीन शुद्ध चीजें हैं जो बुद्धि को जगाये बिना प्राप्त नहीं होतीं। यदि बुद्धि जाग गई, तो ईश्वर का एक अंश जाग गया। "ईश नाम सामर्थ्य का है।" सामर्थ्य का अर्थ है शक्ति। शक्ति दो प्रकार की होती है: एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया शक्ति। ज्ञान शक्ति का अर्थ है कि अच्छे व बुरे कर्म को पहचानना तथा क्रिया-शक्ति अर्थात् करने का सामर्थ्य यही है कि जो जाना है कि यह मेरी भलाई के लिए है, उसे कार्यान्वित भी कर सके।

(9)

प्राणी में ईश्वर का सामर्थ्य तभी आया समझा जायेगा जब जैसा उसने समझा है, वैसा ही कर सके। यह नहीं हो कि समझ में ही आकर बात रुक जाए, उस पर आवश्यक क्रिया (अमल) भी होनी चाहिये, वरना यह समझा जाएगा कि वह भगवान् की करने की शक्ति के अंश से दूर ही भटक रहा है, अर्थात् सही रूप में धर्म धारण नहीं कर पा रहा है जो सबका भला करने वाला तथा सबको सुखी करने वाला है। सुख-दुःख दोनों में ही संयमी रहना ही धर्म है, जिसे जीवन में उतारने से (तन तथा मन में धारण करने से) चरित्र ही इतना सुन्दर तथा प्रिय हो जाता है, जो सबको प्रिय तथा उपकार वाला महसूस होता है।

(10)

परमात्मा ईश्वर की तरह ही भगवान् है; यह तीसरे नम्बर का है। सबसे ज्यादा उत्तम तो यही भगवान् है, पर तत्व रूप से पहले वे दो हैं। भलाई सबसे ज्यादा इसी से होती है और यही परिपूर्ण होता है। इसके छः ऐश्वर्यों को सूर्य में बताया

जा चुका है। यह प्रभु (भगवान्) यह भी जानता है कि जो कुछ भी सुख व दुःख अभी किसी को प्राप्त हो रहा है वह किन पूर्व के कर्मों से हो रहा है। यह सब विज्ञान उसी भगवान को है। ये सब विज्ञान, शास्त्रों के आदेश, शब्द, उन्हीं के बनाये हुए हैं। भगवान् (इन) सब सोलह कलाओं से पूर्ण है। मनुष्य को भगवान् की भक्ति करते-करते देह, मन, बुद्धि व इन्द्रियों आदि में उसकी कलाओं को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि एक कला भी अपने-आप में उतार पाए, तो समझो! आप दुर्गति से सुरक्षित हो गये।

(11)

"परमात्मा" शब्द से 'सबकी आत्मा' का बोध होता है, अर्थात् एक तो आत्मा है अपने में, एक-एक में, जिसे मनुष्य कहता है कि 'यह मेरी आत्मा है', एक परमात्मा हैं, जो सबके अन्दर समान रूप से बैठा हुआ है। सबके अन्दर समान रूप से बैठा हुआ चेतन-रूप आत्मा का नाम ही परमात्मा है। ईश्वर का नाम दो प्रकार की सामर्थ्य का है, ज्ञान का सामर्थ्य तथा क्रिया का सामर्थ्य। आपको पहले पहल ज्ञान के सामर्थ्य से जानना है कि "क्या मेरी भलाई के लिए है?" फिर जैसा जाना, उसके अनुसार कर सकना। ये दोनों प्रकार के सामर्थ्य यदि आ जायें, तो समझो! यह ईश्वर की कला उतर आई है। भगवान् वह है "जिसने प्रकृति के ऊपर पूर्ण काबू पाया हुआ है और काबू पाकर स्वतंत्र हो गया है।" विश्व के अन्दर वह इतना स्वतन्त्र हो गया है कि जैसे उसको कोई दूसरा दिखलाई नहीं देता अर्थात् वह सबको आत्मा रूप से अपना ही रूप देखता है। वह छः ऐश्वर्य वाला है, विद्या-अविद्या को जानने वाला है, सब कर्मों की गति-अगति और मोक्ष-बन्धन सबको जानता है। तो मनुष्य को अपनी भलाई के लिए इन्हीं की शरण लेनी है।

(12)

भगवान् के गुणों को अपने अन्दर धीरे-धीरे उतारने के लिये, उन्हें श्रद्धापूर्वक सुबह उठते ही सबसे पहले उनका स्मरण करो कि "हे प्रभो! मैं आपकी शरण में हूँ, और आपके ही जो बल व धर्म हैं, जिस तरह आपने धारण किए थे; उन्हीं को मैं अपने बल के अनुसार धारण करने का यत्न करूँगा। आपके उस धर्म

का भी मेरे को सहारा है, और उसकी भी मैं शरण में हूँ। फिर जिसके अन्दर भी छोटा-मोटा आपका बल व गुण दिखाई दे जाये, जो भगवान् के अनन्त भक्त हो गये हैं और आगे भी होंगे, एक रूप से उन सब का भी मैं सहारा लेता हूँ"।

(13)

शास्त्रों का मत है कि प्रकृति के पाश (जाल) से मुक्त होने पर ही परमात्मा मिलता है। यदि आप अपने जीवन द्वारा इसको प्रमाणित नहीं करते हैं, तो शास्त्रों की सुनी हुई बातों को दूसरों को सुनाकर अपना अहंकार ही दिखाना है और केवल जीवनभर शास्त्रार्थ (बहस करने) में ही लगे रहना है। यदि आप धर्म की कुछ कमाई कर पाये, तो चुप और मौन हो जाओगे, बाहर इसके बोलने की, तर्क वितर्क करने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। कारण कि चेतन तो वर्णनातीत है, जिसका सही रूप से निरूपण नहीं हो सकता, केवल अनुभव किया जाता है।

(14)

प्रभु का स्वभाव है- ज्ञान रूप से सदा चमकना। उसी का जो ज्ञान है, उसी दृष्टि से प्रकृति क्षण-क्षण तरंगयुक्त होती रहती है। प्रभु झाँकता रहता है, और प्रकृति उसी से बदलती रहती है। प्रभु का झाँकना नित्य है; वह कभी भी समाप्त नहीं होता है। इससे प्रकृति भी सदा अपनी क्रीड़ा करती रहती है, और उसी से सुख दुःख को रचती रहती है। स्थिर इसमें कुछ भी नहीं हैं, केवल प्रभु का ज्ञान ही स्थिर है।

(15)

मन्दिरों में आम होने वाली 'झाँकी' को पुजारी कभी भगवान् की मूर्ति के सामने पर्दा लगा देगा, कभी हटा देगा उसका का भी यही भाव है, कि जो सर्वव्यापक भगवान् अन्दर है वह केवल झाँकता ही है। जैसे जिस समय उसकी तरंग उपर उठती है, तो वह झाँकता है और वैसे ही झाँक करके एक बार आँख बन्द कर लेता है, तो वही इसमें तरंगमय एक गड्ढ़ा है। ज्ञान-रूपी भगवान् हर क्षण नया-नया सा प्रतीत होता रहता है।

(16)

भगवान के प्रत्येक ज्ञान के नव-नव क्षण में प्रकृति भी अपनी लीला करती है। भगवान् का क्षण तो ज्ञान है, जोकि तरंग का उभरा हुआ भाग है, और प्रकृति का क्षण तरंग के गड्ढ़े जैसा है। भगवान् के झाँकने का क्षण प्रकृति को उत्तेजित करता है और प्रकृति जगत रचती है।

(17)

सारी प्रकृति और देह के अन्दर के पाँचों तत्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) में ज्ञान की ही तरंगे हैं, और ज्ञान के साथ-साथ प्रकृति की बारीक तरंगें भी हैं। उसी से देह में खून का दौरा होता है; अन्न का रस सारे शरीर में जाता है, सारे अंग बढ़ते हैं; उसमें भी ज्ञान देव बैठा है। यदि ऐसा न हो, तो ये सब कैसे बढ़ें? जिसका मनुष्य को पता ही नहीं है। इन व्यापक सत्यों तथा तत्वों का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता, जिसका कारण उसका बाहर उलझा हुआ ज्ञान है। मन का ज्ञान तो एक ही है, भले उसे बाहर उलझा लो, भले अन्दर ले आओ।

(18)

वह अव्यक्त भगवान् जो सबके अंदर छुपा बैठा है, तथा प्रत्येक प्राणी के चेहरे, चेष्टाओं व नाना प्रकार के आँख, कान द्वारा दर्शन से प्रकट (व्यक्त) हो रहा है। यह व्यक्त (प्रकट) नाम ही गीता या शास्त्रों में चेतन, समझ व ज्ञान कहा गया है, और कोई दूसरी वस्तु (तत्व) उसके अंदर नहीं है। यही जो चेतन है, व्यक्त (प्रकट) होता हुआ दुनिया को चला रहा है, अर्थात् यही व्यक्त भगवान् ही संसार में बाहर सारी लीला कर रहा है। वह क्षण-क्षण में प्राणियों के एक दूसरे के सामने पड़ने पर जिस प्रकार का वह प्रकट होता है उसी प्रकार से वह उनकी देहों की मशीनों को चला देता है। मनुष्य की 'मैं' तो उसका मिथ्या अभिमान ही है। यदि यही सत्य है तो फिर करने कराने वाला कौन है? वह (भगवान) एक ही है जो कि सारे संसार-चक्र को चला रहा है उसी की भक्ति करनी है।

(3) जीव (Living Being)

(1)

जीव नाम प्राणी मात्र का है, जो प्राण को धारण करता है, परन्तु प्राण का धारण, बिना ज्ञान-रूप, विज्ञान-रूप, चेतन के बिना नहीं हो सकता। ज्ञान-विज्ञान का अर्थ है कि कुछ समझना या समझ में पड़ना और उसके बाद साँस को लेना। इतने में ही जीव भाव बन जाता है। इसका नाम ज्ञान और क्रिया-रूप जीव है जो कि जीवन धारण करता है। अब यह जीव एक तो है नहीं, असंख्य हैं जो कि आपस में यह परस्पर एक दूसरे को प्रतीत होते हुए या महसूस करते हुए सुख दुःख का अनुभव करते हैं। जिसके कारण से राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि अनेक विकार और बन्धन इस जीव में, जल में तंरगों के समान हर समय बहते रहते हैं।

(2)

जीव इसी का नाम है, जो कि इन जीवों के अनन्त समुदाय रूपी संसार में बहने वाला इसी समूचे या समष्टि (व्यापक) रूप का एक भाग या इकाई है, यह जीव कहलाता है। समुदाय में रहने से जीव का भाव हर समय एक अवस्था में नहीं रहता, इस कारण इसमें दुःख और क्लेश सदा बना रहता है। इस दुःख को टालने हेतु प्राणी (जीव) की खोज तब तक चलती रहती है जब तक कि वह अनन्त ब्रह्म या परमात्मा को पहचान नहीं लेता अर्थात् यदि जीव इस व्यापक ब्रह्म को पहचानकर, उद्योगी होकर अपने बन्धनों को टालते हुए अपनी ज्ञान-रूप आत्मा में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करले, तो सभी दुःख मिट जायेंगे।

(4) आत्मा (Soul, consciousness in particular) आत्म ज्ञान (Self Knowledge)

(1)

जब सच्चिदानन्द एक में व्यक्त होता है, तो उसे आत्मा कहा जाता है। जब इस पर अविद्या का आवरण (पर्दा) ढका रहता है, तो यह सच्चिदानन्द रूप से

प्रकट (व्यक्त) नहीं होता, तो जीव इसी को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करता

है। यही प्रकट (व्यक्त) हुआ आत्मा यदि सब में समान रूप से दीखे या अनुभव में आये, तो यही सच्चिदानन्द व्यापक, सब जगह वृद्धि वाला होने से शास्त्रों में 'ब्रह्म' करके कहा गया है।

(2)

दृष्टि की विशुद्धि हित आत्मा पहचान ,
आत्मा परमात्मा सर्वत्र वही जान ।
शुद्ध हुए पै दृष्टि तासे उपजे शुद्ध ही मन;
द्वेष, राग, क्रोध, काम, छीजे काम का वन।।

(3)

शुद्ध मन कर्म करे, भले के अनुकूल,
बन्ध व विकार टारे, करे नहीं भूल।
संग थोड़ी जरूरतों के जीवन की हो साध;
दे दुःख का ध्यान, ज्ञान हरण को व्याध।।

(4)

सुख जो हुआ क्षीण, मन ला देगा तूफान,
उसमें राखे स्मृति, नहीं खोये आत्म ज्ञान।
खोया जो आत्म ज्ञान, होगा खोटा व्यवहार,
जो धर्म की नाव न होने देगा भव से पार।।

(5)

सब का अन्तर्यामी जो, निश्चय सब को बसाये,
क्षण-क्षण वह चमके फिर कहीं छुप भी जाये।
बस व्यक्ताव्यक्ति यह दोनों इसके खेल;
यही ! बसे वासुदेव तुम जाओ चुप्पी में हेल।।

(6)

सम्यक् ज्ञान आपको अपने अंदर आत्मा में जानना व समझना पड़ेगा और समझ करके उसी के अनुसार चलने का मार्ग भी बनाना होगा। इसके लिए उचित यही है कि मानव श्रद्धा से बाहर के जीवन में अपने आप को ठीक ढंग से

चलाए। इस हेतु सबसे पहले अपने चरित्र का सुधार अच्छे कर्मों द्वारा थोड़ी श्रद्धा रखते हुए ही करना पड़ेगा। यदि बाहर के कर्म ठीक नहीं कर पायेंगे, तो प्रकृति (आदतों की शक्ति) का सामना आपसे नहीं हो पायेगा और उस प्रकृति के चंगुल से निकलना बड़ा मुश्किल होगा, क्योंकि वह शक्तिशाली है।

(7)

आत्मा का ज्ञान गहरा, निज से निज में पाये।
विषयों से हरे जो मन को, हरि हर तभी मिलाये।।

(8)

सूक्ष्माति-सूक्ष्म विज्ञान से देहेन्द्रि, मन बुद्धि सम्भाल,
प्रत्येक चेष्टा दृष्टि में राखे, ध्यान से बन्ध जान और टाल।।

(9)

वेदान्तों के अनुसार आत्मा का स्वरूप ज्ञान रूप ही कहा है, अर्थात् ज्ञान मनुष्य का अपना स्वरूप है, और अपना होता हुआ स्वरूप ही सत् कहा जाता है, जिसका कि अभाव (न होना) कभी भी प्रतीत नहीं होता। वह सुख रूप से भान होता हुआ सुख और चेतन रूप से भी कहा जाता है। सुख का अर्थ है, आनन्द रूप। इस प्रकार सत्, चित्, आनंद, रूप से निरूपण किया गया है। इसका एक वाक्य में भी यूँ भी निरूपण किया जा सकता है कि "ज्ञान में सुख रूप से या आनंद रूप से भान होता हुआ अपना-आपा"।

(10)

सुख स्वरूप का भान छुप जाने पर आत्मा खोया-सा प्रतीत होता है, जो पुनः सुख व्यक्त होने से तो अपना-आपा स्मृति के साथ अनुभव में आ जाता है। विषयों द्वारा या प्राणियों द्वारा प्राप्त सुख जो मनुष्य को मिलता है वह स्थायी न होने के कारण सुखों की समाप्ति के साथ ही लुप्त हो जाता है अर्थात् यदि इसको (आत्मा को) सनातन रूप से पाना हो, तो मनुष्य को दुःखों को सहन करते हुए, बुद्धि को रखते हुए साधना द्वारा समय व्यतीत करना चाहिए। यद्यपि दुःखों के साथ रहना या समय व्यतीत करना भारी पड़ता है, परन्तु यह दुःख भी सदा बने रहने वाले नहीं हैं।

(11)

विषयों की तृष्णा से मुख मोड़ने पर आत्मा सदा सुख रूप से भासमान (प्रकाशित) रहेगी। इस प्रकार नित्य आत्मा के लाभ को प्राप्त हुआ-हुआ प्राणी इसी को स्मृति से व्यवहार के दु:खों में भी चलायमान नहीं होता। वह संसार के आवश्यक कर्मों को जो कि देह धारण के लिए हैं, उनमें बिना खेद के अपना जीवन (समय) व्यतीत करता है, तथा बाकी समय में वह पुन: अपने ज्ञान द्वारा नित्य सच्चिदानंद रूप आत्मा के स्वरूप में मग्न रहता है। इस प्रकार का अभ्यास अधिक बढ़ जाने पर, मनुष्य सारे संसार में आत्मा का विस्तार करके सर्वत्र इसी को पहचानता है, तो यही "ब्रह्म-दर्शन" कहा जाता है।

(12)

निकट से जिसने देखा न जीवन,
जाने कैसे वह निज का भला?
रहा सदा बसा वह काम के वन;
जिसमें केवल दु:ख ही दु:ख फला।।

(13)

देह में 'मैं' को समझा है तू,
दीखे इसमें छिपा न तुझे पाप।
जैसे चाहे चलावे वह (तुझे) त्यूँ;
तेरे भले में उसका संताप।।

(14)

क्या मैं करता हूँ, कैसे चलूँ?
करूँ वह मैं न जिससे डरूँ।
वश में देहादि कर जो चल सका;
कुछ समझा, सीखा जीवन (पर) जो न थका।।

(15)

बाल जाने देह में "मैं-मैं" का ही नाम,

और को-को शक्ति छिपी, करे इसमें काम।

उत्तरदायी दुःखादि रखने में ठहरे कौन?

मन में समझे, भावना करले, बाकी राखे मौन।।

(16)(खण्ड 4 भी देखें)

शुद्ध ज्ञान केवल कल्पना से अतीत होता हुआ मनुष्य की अन्तरात्मा अर्थात् निकटतम शुद्ध आत्मा है, जोकि सर्व यत्न से प्रकट करने योग्य है। इसके प्रकट होने पर इसी के सुख की तरंगों में बहता हुआ प्राणी सब कुछ भूल जाता है, और संसार का कुछ भी उसे प्रतीत (प्रभावित) भी नहीं होता। इस अवस्था में उसके लिए संसार में पुनः कोई कर्त्तव्य नहीं रहता तथा इस रूप में वह संसार से उपेक्षित ही रहता है। इसलिये यही शुद्ध प्रज्ञान जिसमें कोई देशकाल और व्यक्ति का बंधन नहीं है, सभी भेद भाव से रहित है, यह पूर्ण एक रूप ब्रह्म से समझा जाता है, उसी में टिकाव पाना है।

(17)

ऐसा दीर्घ काल बोध संग अभ्यास,

साधे पावन जीवन जो दे आत्मा में वास।

सहज समाधि इसकी खण्डित न होये;

सब कुछ करते, सब में रहते, बुद्धि भी न खोये।।

(18) (खण्ड 4 भी देखें)

निज में होने लगा, जब निज का भी प्रकाश,

दूजों का भी पता पड़े, दीखे बन्ध पाश।

गुणों के विकास संग मन शक्ति जुटाये;

जीवित मुक्ति पाये, सकल दुःख को मिटाये।।

(19)

जब तक भासे दु:ख तब लो मन न रमाये,
जहाँ टरे दु:ख, तहाँ-तहाँ को ही धाये।
पावन प्रकार से जो टारना न आये;
अभ्यस्त पथ पै तृष्णा खींचे, दु:ख को बढ़ाये।।

(20)

रहे निज का बोध तो मन निज में रम जाये,
कुछ करने की भी सूझ हो, तो पूरा जीवन पाये।
जग के सुखों संग दोष, दु:ख व विकार;
जूँ-जूँ दीखे, बोद्धा मन सोचे जाना पार।।

(21)

बाहिर पवित्र जीवन, अन्दर की पहिचान,
विकारों के वारने में, सुख का भी भान।
इनके संग देवन में पूजित पद को पाये;
केवली की मुक्ति, जब लो निकट नहीं आये।।

(22)

मन को पवित्र पूरा कर ले, इतना तर्क जगाये,
फिर देखे जग राखन खातिर को तेरी चाह रखाये।
ऐसा हुये पै कौन समाधि विघ्न करन को आये;
'मैं' तेरी जो रही न जग में, सहज समाधि सुहाये।।

(23)

आत्मा सनातन (सदा रहने वाला) है। पर उसको जानने के लिए उतनी ही गहराई तक जाना होगा, जहाँ पर चेतन आत्मा टिकी बैठी है। इन भगवान के गुणों व भाव की भक्ति करने से इस देह की ज्यादा आवश्यकताएं भी नहीं रहती हैं। देह (शरीर) तो खाली आँख से दिखाई देने वाली वस्तुओं व प्राणियों में, तथा उन्हीं के कर्मों में बाँधने वाला ही है जिसके लिये कामना का त्याग करना होगा। कामना का त्याग करते ही व्यापक कतबे की भगवद्-भक्ति

शुरू हो जाती है। वहाँ देह की भी जरूरत नहीं। वहाँ चेतन ही चेतन है। यह चेतन अपने अन्दर यदि प्रकट कर लिया तो समझो ! परमात्मा प्रकट हो गया।

(24)

ज्ञान को मुक्त करने के लिये प्राणी अन्दर ज्ञान को जगाए; अन्दर की वस्तुओं को पहचाने तथा अपने को सही ढंग से प्रेरित करता जाये। इस प्रकार से यदि आप अपने जीवन को बहुत नजदीकी से परखने लगेंगे, तो समझो ! वास्तव में आत्म–ज्ञान का मार्ग आपने खोल लिया। इस प्रकार यदि अन्दर के सत्यों को महसूस करने में आपका ध्यान लगने लग गया और ध्यान बाहर से टूट गया, तो इसकी शक्ति भी बाहर भटकने के बजाय अंदर ही एकत्रित होने लगेगी, ऐसे में आपको अकेले बैठने में भी आनंद आने लगेगा। यदि ऐसा किसी से बन गया, तो समझो ! उसको अपने–आप में जीवन मिल गया।

(25)

निद्रा का सुख कोई ऐसा सुख नहीं है जो किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु से प्राप्त होता हो। वह सुख तो केवल बाहर संसार की वस्तुओं आदि को ठोकर मारकर अपनी अन्तरात्मा में मन को केन्द्रित (एकत्रित) करने से ही मिलता है। पर नींद में भी जब तक वह तृष्णा वाला मन नहीं जागता, तब तक ही सुख है। जैसे ही बाहर की कोई चिन्ता आ गई, तो फिर मनुष्य को नींद में भी सुख व शान्ति नहीं मिलती। इसलिए सन्तों व धर्म के आचार्यों ने बार–बार कहा है कि इस अन्दर के सुख की खोज़ एकाग्र होकर अपनी अन्तरात्मा में खोज़ो, वहाँ खोज करने पर जो सुख मिलेगा वह बड़े एकान्त का होगा जिसमें आनन्द ही आनन्द है।

(26)

शास्त्रों के अनुसार इस आत्मा पर पाँच खोल (कोष) चढ़े हुए हैं, जिसके कारण आत्मा दिखाई नहीं देती। (1) आनन्दमय कोष (सुख दुःख से प्रभावित होना, दुःखी मन से परेशान होना) (2) विज्ञानमय कोष (संसार की नाना प्रकार की बातों को समझने व विचारने में ही लगे रहना) (3) मनोमय कोष (फिर मन के चक्करों में कहीं काम, कहीं क्रोध, कहीं लोभ, कहीं मोह,

कहीं संकल्प-विकल्प, कहीं खोटे काम करने की बातें सोचना) (4) प्राणमय कोष (साँस के ऊँचा, लम्बा, छोटा; अनियमित होने की सोच में उलझना) तथा (5) अन्नमय कोष (देह में कहीं भी थोड़ी व्याधि व असामान्य लक्षणों का सोच विचार)। इस प्रकार ये पाँच खोल इस आत्मा पर चढ़े हुए हैं। इन पाँचों से परे हटकर, इन पाँचों को धीरे-धीरे भूलना पड़ेगा। इस प्रकार आपको ध्यान लगाना पड़ेगा।

(27)

यदि साधक का मन गहराई में जागते हुए टिक गया, तो फिर यह शुद्ध सच्चिदानंद ज्ञान रूप से अपना परिचय भी देगा जो अपने ढंग का ही होगा, क्योंकि न वह शरीर है, न मन, न बुद्धि, न इन्द्रिय, न कोई प्राण, परन्तु तब भी ऐसा भी नहीं है कि कुछ भी नहीं है। इससे आगे अपने-आप यह विचार भी आयेगा कि हाँ-भई! मेरे में कोई काम कर रहा है, कीड़े में भी, पशु-पक्षी में भी, सब में वही तो करने वाला है, उसमें ही ऐसी शक्ति है। इस प्रकार सब तरफ से मन हटाकर एकाग्रता से अपनी अन्तरात्मा में ध्यान लगाने से सब स्पष्ट होता जाएगा। इसके लिये थोड़ा नींद का तथा संसार की वस्तुओं तथा पदार्थों की कामना का त्याग करते जाना है।

(28)

आत्मा के अध्ययन (स्वाध्याय) बिना अंदर के छुपे सत्यों की खबर कैसे पड़ेगी? इसलिए वे छुपे-छुपे हुए सत्य एकजुट हो करके बाहर अपना चक्कर चलाते हैं। ऐसे में होश सँभालते हुए सारे देह, परिवार व समाज के कर्म करें। जब इस तरह होश (स्मृति) रूपी दुर्गा भगवती टिकी रहेगी, तो आपको हर समय मन की खबर लगती रहेगी, ऐसे में आप वीर्यवान् होकर अपना भला आसानी से साध सकेंगे। जब साधक आत्मा के (आध्यात्मिक) जीवन के मार्ग पर चलने लगता है, तब छूटता तो कुछ भी नहीं है। जितनी देह की जरूरतें हैं वे तो पूरी होती ही रहेंगी। बस! केवल तृष्णा, काम-क्रोध, आदि अन्य विकारों को (आदतों की शक्ति) जो बंधन बने हुए हैं उन्हें तोड़ते जाना है, और ऐसे में मिले दुःख को भी सहते जाना है और श्रद्धा द्वारा खोटे कर्मों को त्यागना है।

(29)

श्री गीता जी में लिखा है कि काम, क्रोध व लोभ ये नरक के तीन दरवाजे हैं जिनसे आत्मा का नाश होता है। इसलिए पहले इन तीनों को मन से त्यागे। जिस सत्य को ध्यान में देखते हुए पूर्व के ऋषियों व अवतारों ने इन तीनों को नरक के दरवाजे बताया, उसी ही सत्य को अपने ध्यान में परखना व समझना है। जब यह सत्य समझ में आ जायेगा, तो समझो ! कि आपका विचार जाग गया। यह अन्दर जगा हुआ विचार आत्मा को बड़ी नजदीकी से छू लेगा। इस आत्मा में छुपे हुए सुख को पाने के बाद, मनुष्य को सबसे कीमती (मूल्यवान) वस्तु जो पाने की थी, वह प्राप्त हो जाती है और उसके बाद कुछ भी पाने को नहीं रहता है।

(5) माया (Divine Dynamism)

(1)

माया वह शक्ति है जो सब कुछ करती कराती नज़र आती है। एक रूप में टिकी नहीं दीखती, क्षण-क्षण बदलती रहती है बस ! इसका नाम ही अनिर्वचनीय है, जो किसी लक्षण और प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता। इसके बारे में कुछ कहा भी नहीं जा सकता। पर इतना अवश्य है कि माया सत्व, रज और तम रूप है। कुछ समझ में पड़ता है, वही ज्ञान-रूप सत्व है। उस ज्ञान से पुनः कुछ प्रवृत्ति या करने कराने की अन्दर व बाहर की चेष्टाएं होती हैं, यही रजोगुण है। फिर प्रवृत्ति या करने कराने का निरोध या खात्मा दिखता है, यही तमोगुण है। यही लीला इस माया में चल रही है। इसी माया के साथ ही ज्ञानदेव भी इसमें दीखता है। जानना रूप ज्ञान या समझना रूप विज्ञान लगातार तीनों रूपों में होता है। इन तीनों गुणों को भासित करता रहता है। यदि इस कोरे ज्ञान को ही पहचानता हुआ कोई तीनों गुणों की उपेक्षा कर दे, तो यह भगवान् की शरणागति हो गई और माया-जाल से मुक्ति भी मिल जायेगी।

(2)

माया के संग चेतन यह सब थाँ अपना खेल रचाय,
भला बुरा कोई किस को देखे सब को यही चलाय।
जाने औ जन्मे नित-नित, क्षण-क्षण, कुछ-का-कुछ दिखलाय;
इसको जान बस ! मुक्ति के हेतु, सब गुण मन में बसाय।।

(6) प्रकृति (Nature)

(1)

प्रकृति का छोटा-मोटा सुख देखने में तो अच्छा लगता है, परन्तु यह अल्प सुख सदा के लिये अच्छा नहीं होता है। मनुष्य को धीरे-धीरे इस प्रकृति के स्वभाव व आदत की परख करते रहना चाहिये, जो अपने सुख व दुःख दो वीरों को सामने रखकर मनुष्य को अचानक सुख दिखाकर अन्धा कर देती है। प्रकृति की शक्तियाँ अनेक हैं, जिनके प्रभाव में मनुष्य अनेक खोटे कर्म कर जाता है। बस! इन दोनों प्रभावों, सुख और दुःख के बीच में अपने ज्ञान या बुद्धि को बनाए रखे।

(2)

सामान्य जीव को यह प्रकृति अपना परिचय नहीं देती। परम पूज्य भगवान ही इस प्रकृति को पूर्ण रूप से जानता है, यदि हम अपने अन्दर उसको धारण करें, उसके मार्ग को अपनाएं और ज्ञान को थोड़ा-थोड़ा करके अपने अन्दर स्थापित करके उसके अनुसार हम चल सकें, तो प्रकृति के उपर काबू पा सकते हैं, यही भगवान की सच्ची भक्ति होगी। तो बस! उसी ज्ञान रूप भगवान् की भक्ति हमें करनी है, जिसने प्रकृति के उपर वश (काबू) पाया था।

(3)

पहले तो यह प्रकृति मनुष्य के मन को अंदर की विद्याएं समझने के लिऐ अन्दर आने ही नहीं देती और बाहर संसार में ही भटकाती रहती है। मनोयोग वही कर सकेगा जो थोड़ा एकान्त में बैठकर प्रकृति के व्यवहारों की जाँच करके, मन में विचार करे और उसे चेताए। चेताने का नाम है, चेतन होना अर्थात् सही समझ से अपने-आप को स्थिर करने का और करते जाने का। बस! ज्यों-ज्यों मन चेतता गया, शक्ति पकड़ता जायेगा। जड़ बुद्धि वाला जीव तो सदैव बंधन में ही रहता है।

(4)

प्रकृति के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकारों को त्यागकर मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, शील, संतोष, क्षमा, दान, वीर्य आदि भगवान के

निर्मल गुणों के भावों को साधक को उपजाते रहना चाहिए। यही अकेले में चेतन होना कहा जाता है। चेतन सब बन्धनों से मुक्त होता है। यदि मनुष्य चेतन नहीं हुआ, तो कभी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। जब मन संसार में बाँधने वाले बन्धनों से छूटकर चेतन हो जाए, तो समझो! उसको मोक्ष (मुक्ति)प्राप्त हो गया।

(5)

प्रकृति का स्वभाव है, क्षण-क्षण बदलते रहना। कभी वह सुखमय दीखती है, तो बदलते-बदलते दु:ख रूप भी हो जाती है, और पुन: दु:ख रूप से सुखरूप में बदल जाती है। जो दोनों में सम-रूप से टिका रह सके, वह प्रकृति के बंधन से मुक्त हो जाएगा और उसकी दृष्टि केवल उसी प्रकृति को तरंग-युक्त बनाने वाले प्रभु पर ही रहेगी। वह यदि असंग तथा एक रस है, तो उसका भक्त भी वैसा ही हो जाएगा।

(6)

आदत की शक्ति प्रकृति, जो जन्म से चिपकी रहती है तथा बार-बार प्राणी को बाहर के सुखों की ओर ही धकेलती रहती है। इसके छुटकारे के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य थोड़ा समय निकालकर एकान्त में आसन पर बैठकर अपने सामान्य जीवन में थोड़ा दु:ख सहन करने की आदत डाले, जिसके बिना इस शक्ति का क्षय नहीं होगा। बाहर अपना व्यवहार भी सही रखे और न ही बाहर दूसरों से शिकायतें करे अर्थात् धैर्यपूर्वक दु:खों को साक्षी भाव से सहन करता रहे। इसके साथ ईश्वर-भक्ति भी करनी होगी। सबके अन्दर व्यापक "तू-तू", "मैं-मैं" देखने की बजाय सब में एक परमात्मा देखना है, यही उत्तम होगा। वही एक चेतन ही तो है, जो सब जीवों का जीवन रख रहा है, उसी को ही अपने मन के अंदर पहचानना है।

(7)

खोटे कर्म करवाने वाले जोश व सारी प्रेरणाएं प्रकृति की ही संतान हैं। प्रकृति ही काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह व अहंकार आदि विकारों से प्रेरित करती है, तथा मनुष्य को भ्रमित करती रहती है। फिर जैसा ज्ञान वैसी ही उसकी क्रिया।

सुख-दु:ख से प्रभावित मनुष्य को इतना विवेक नहीं है कि वह इस प्रकृति के मार्ग में चलने से भविष्य में होने वाले अपने कर्मों के अच्छे-बुरे परिणाम को सोच सके। विवेक का अर्थ है- भले बुरे को सही रूप से समझना। विवेक से ही बुद्धि विकसित होती है तथा उचित ज्ञान प्राप्त होता है।

(8)

रजोगुण व तमोगुण प्रकृति की संतान, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा रूप हैं, क्योंकि रजोगुण (भव-तृष्णा) से मनुष्य बाहर के संसार में ही अपने सुख के लिए कुछ 'होने' या 'बनने' के चक्र में पड़ा रहता है व कर्म करता रहता है और तमोगुण (विभव-तृष्णा) में बाहर संसार के 'होने बनने' के इन सब चक्करों से तंग आकर 'न होने बनने' की अवस्था (निद्रा) में जाना चाहता है, जहाँ उसको अपनी आत्मा में लौटने से कुछ सुख की अनुभूति होती है। यह सब प्रकृति का ही जाल है। प्रकृति के इस मार्ग पर इसका विरोध करके इसके चंगुल से छूटना है।

(9)

जो मनुष्य इन भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश), प्रकृति और दूसरी बचपन से हुई-हुई (बनी हुई) आदतों के बंधन-रूप प्रकृति (स्वभाव) है और इन दोनों प्रकृतियों से मोक्ष (छुटकारा) को जानता है, वही परमपद को प्राप्त होता है। प्रकृति से परे वह सच्चिदानंद आत्मा है, जिसका सहज़ सुख समाप्त होने वाला नहीं है, न ही बदलने वाला है। यह अपने अन्दर सत्य का ज्ञान जगाने से ही प्राप्त होगा।

(10)

प्रकृति, ज्ञान को भी अन्दर नहीं जगने देती व बाहर संसार में भी सब अच्छे कर्म नहीं करने देती। ऐसे में मनुष्य पहले अपने व्यवहार अर्थात् कर्मयोग को सुधारे। मिथ्या कर्मों को टालता जाये और पवित्रता के नियमों का पालन करता जाये ताकि उसका आध्यात्मिक जीवन न बिगड़े। इस प्रकार श्रद्धा के बल से, बाहर अपने चरित्र को भी सुधारना है, और थोड़ा ध्यान को उन्नत करके, अपने को सही मार्ग पर प्रेरित करते हुए अपने बल को और भी अधिक बढ़ाना है।

थोड़ा मन में संतोष भी बसाये रखना है। साथ-साथ, स्वाध्याय को भी बढ़ाते

जाना है।

(11)

प्रकृति के तत्व काम (इच्छा), क्रोध, मोह, मान, अहंकार आदि भड़क पड़ते हैं। भड़के हुए मन के अन्दर उत्तेजित हो करके वे खोटे भाव ही पैदा करते हैं। पर सही समझ आने पर मालूम होगा कि इस संसार में दुःख देने वाला कोई मनुष्य नहीं; दुःख देने वाली तो यह प्रकृति शक्ति है, और साथ-साथ अपनी मानसिक दुर्बलता है। यही सब जीवों के अन्दर बैठी हुई उनको अपनी इच्छानुसार चला रही है। ऐसा ज्ञान होने पर यदि आपने बुद्धि सुधार ली, तो समझो! बुद्धि तक आप अपने पर काबू पा गए और फिर खोटा निश्चय नहीं होगा और खोटी बुद्धि भी नहीं बनेगी। खोटा (मिथ्या) संकल्प भी नहीं बनेगा। जब ये खोटे भाव उत्पन्न नहीं होंगे, तो सारे देह व इन्द्रियों के कार्य बढ़े उचित ढंग से आरामपूर्वक चलेंगे।

(12)

स्वाध्याय के बाद ईश्वर-प्राणिधान है अर्थात् अपने-आपको थोड़ा पहचानना कि प्रकृति-शक्ति किस प्रकार मुझे प्रेरित करके चला रही है और उसी मार्ग से दूसरों में भी कार्य कर रही है। तो इस प्रकार ईश्वर (व्यापक जीवन) में मन को लगना है। संक्षेप में एक व्यक्ति का जीवन एक देह में है, और सर्वव्यापक जीवन एक-दूसरे के साथ जुड़ा-जुड़ाया हुआ है। इस व्यापक जीवन के बीच में कई प्रकार के प्रकृति के प्रभाव पैदा होते रहते हैं जैसा अपना मन बना होता है अर्थात् जैसा ही इधर से ज्ञान प्रकट होता है, वह प्रकट हुआ ज्ञान दूसरे के अन्दर भी वैसा ही ज्ञान जगा देता है। अर्थात् जैसे वे इस व्यक्ति पर असर डालते हैं; वैसा ही दूसरे पर भी प्रभाव डालते हैं। यही सब ईश्वर का (व्यापक जीवन का) प्राणिधान है, जिसमें मन को लगाना व समझना है ताकि अपने कल्याण का मार्ग साफ हो।

(13)

विचार करने योग्य यह बात है कि "मनुष्य दुःख से कैसे बचे ?" क्योंकि संसार में दुःख कोई नहीं चाहता, भले ही सुख ना ही हो। इसके लिए प्रकृति (आदतों की शक्ति) का सामना करना आवश्यक है ताकि दुःख देने वाले खोटे कर्मों से

बचा जा सके। इस हेतु यदि कोई मनुष्य अपने अन्दर विवेक (ज्ञान) पैदा कर सके, तो यह समझो कि उसने प्रकृति पर अंकुश लगाकर प्रकृति को धर्म के मार्ग पर चला लिया है, जिससे धर्म मार्ग पर चलकर परम-शान्ति एवं परमपद को पाया जा सकता है।

(14)

मनुष्य का जीवन पाँच स्थानों पर टिका हुआ है: (1) देह (शरीर) (2) इन्द्रियाँ (3) मन (4) बुद्धि और (5) सुख-दुःख की वेदनाएं अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूति । प्रकृति (आदतों की शक्ति), देह, इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने ही तरीके से सुख प्राप्त करने व दुःख से टलने के लिए चलाती है व उसे दास बनाए रखती है। प्रकृति के चंगुल से छूटने के लिए भगवान् के छः ऐश्वर्यों को मन के अन्दर बसाना होगा, साथ ही जो तंगी(दुःख) हो उसे सहन करते हुए इन्हें बढ़ाते जाना है। जितना-जितना साधक इन ऐश्वर्यों को अपने अंदर बसायेगा उतनी ही भगवान् की भक्ति होगी और वही उसका परमपद को पाना है।

(15)

यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) ने अपने ढंग से ही कर्म करवाया है, तो उसका फल भी प्राणी को मिलेगा ही। यदि खोटा कर्म किया है, तो उसका भाव भी बनेगा। क्योंकि कर्म अकेले में नहीं किया है, इस लम्बे चौड़े व्यापक संसार में किया है, तो उसके विधान के अनुसार फल भी भुगतना होगा। शास्त्रों में ब्रह्म नाम व्यापक का है, और विधि-विधान भी इसी का नाम है। पहले किये गये कर्मों के अनुसार उसके संस्कार रूप (छापें) जिसे चित्रगुप्त भी कहते हैं, अन्दर बैठ गये हैं । फिर वही चित्रगुप्त सृष्टि पैदा करता है, जिसमें मनुष्य की कुछ नहीं चलती। ये सब खेल प्रकृति के भाव के अनुसार खड़ा होता है।

(16)

सभी के अंदर प्रकृति का विधान इतना गम्भीर है कि साधारण मनुष्य को इसकी कुछ समझ ही नहीं होती। यही अविद्या है, जो बलशाली है कि साधारण जन इस पर काबू नहीं पा सकता। आपको विद्या प्राप्त करके अविद्या

टालनी है। कर्मों की गति को जानना है और जानकर अपने-आप को सही रूप से प्रेरित कर मोक्ष के मार्ग पर चलना है। इसके लिए ध्यान भी करना है, जिसके लिए बाहर से मन को समेटना है, ऐसे में प्रकृति के विरोध का दुःख भी सहते जाना है।

(17)

सारे दुःख व सुख जीव की कमजोरी व विकारों के हैं, और प्रकृति (सारे विश्व की शक्ति) की दासता होने से हैं, जो उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व सुख दुःख की वेदना, इन पाँच ठिकानों पर बाँधे रखती है। इस सारे विश्व की प्रकृति को भगवान की माया समझ लो, और फिर प्रत्येक जीव का अपना एक स्वभाव (आदतों की शक्ति) है, वह उसकी प्रकृति है। प्रकृति इन्हीं बाहर की वस्तुओं में ही सुख दिखाकर बाहर संसार में ही घूमने व उसके विषय वस्तुओं के बारे में सोचते रहने को बाध्य करती रहती है। इससे मुक्ति पाने के लिए सत्य के ज्ञान रूपी भगवान् को अपने अन्दर जगाए व उसके गुणों का स्मरण करे। यही आध्यात्मिक विद्या है।

(18)

प्रकृति का बंधन दो प्रकार से मनुष्य को बाँधता है : (1) सांसारिक ज्ञान द्वारा व (2) बल (शक्ति) द्वारा। सांसारिक ज्ञान द्वारा बाँधने का भाव है कि जिस प्रकार के सुख का उसको ज्ञान हुआ है, उसी से मन का लगाव हो जाता है। उसके साथ-साथ ही फिर उसी सुख को प्राप्त करने की इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं, जो उसे बलपूर्वक बाहर ही कुछ कर्म करने के लिए और उसे पाने के लिए धकेलती हैं। यही सब प्रकृति का बल अर्थात् आदतों की शक्ति मनुष्य को बाँधने वाली है, जो दिखाई न देने पर भी आपकी बुद्धि, मन व इन्द्रियों को प्रेरित (उकसाती) करती रहेगी तथा आपके ज्ञान के दीपक को बुझा देगी।

(19)

प्रकृति मनुष्य को चार स्तरों (ठिकानों) पर बाँधती हैं : (1) शरीर (देह) (2) मन (3) चित्त (जहाँ जा करके मन सोचों में पड़ा रहता है) तथा (4) वेदना (सुख व दुःख का अनुभव करना)। प्रकृति पहले स्तर पर शरीर का

सुख-दुःख दिखला करके बाँधती है। दूसरे स्तर पर इच्छा, क्रोध आदि पैदा करके जीव को संसार में ही पटकने के लिए ठोकर मारती है। तीसरे स्तर पर सुख-दुःख वाली वस्तुओं प्राणी व पदार्थों का चिन्तन करके बाँधती है। चौथे स्तर में सुख-दुःख की वेदना अर्थात् सुख-दुःख को महसूस करवा करके प्रकृति संसार में ही बाँधती हैं। प्रकृति के इन चारों ठिकानों के परिचय के लिए ज्ञान का चक्षु (औरव) खुला होना चाहिए। यह प्रकृति कर्म-योग व क्रिया-योग द्वारा ही धीरे-धीरे कटती है, जैसे रेती से लोहे को घिस-घिस कर रेत बना दिया जाता है।

(20)

प्रकृति वह शक्ति है जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार, बिना किसी प्रत्यक्ष प्राणी के यत्न के, अपने-आप अपने ही नियमों और अधिनियमों के अधीन कर संसार को चलाती रहती है। यद्यपि इस प्रकृति के तल (तह) में छुपी हुई चेतन-शक्ति इसको क्रिया-युक्त करती है, किन्तु यह चेतन-शक्ति को ढकने वाली यह प्रकृति शक्ति ही सब कुछ करती-कराती दृष्टिगोचर होती है। इसमें सत्व गुण, ज्ञान-रूप से, रजोगुण, क्रिया-रूप से और तमोगुण, अंधकार या जड़-रूप से ही जानने में आते हैं। चेतन तो ढका रहता है, कार्य करती हुई स्वयं यही प्रतीत होती है, इसलिये इसका नाम प्रकृति है जो कि बड़े व्यवस्थित प्रकार से, नियमों के अधीन, अपने-आप ही होती जाती है, चलती जाती है और काम करती जाती है। इसका बंधन इतना कठोर है कि मनुष्य को इसकी लीला प्रिय प्रतीत होकर बाँधती है और आकर्षित करती है और संसार में बसाए व बनाए रखती है। इस प्रकृति के जन्म, मरण, कर्मों के फल का भोग और सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों से छूटने का रास्ता केवल भगवान् का ही सहारा या शरण हो सकता है।

(21)

प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है। यह 'स्व' व 'भाव' से मिलकर बना है, "स्व" का अर्थ है 'अपना', 'भाव' का अर्थ है 'होना' तो अपनापन से यानि अपने आप से बिना दूसरे की प्रेरणा के हुआ-हुआ कर्म आदि। इसी प्रकार

यह जो जगत् की मूल प्रकृति है, इसका भी यही तात्पर्य है कि किसी भी दूसरी जानी बूझी, प्रेरणा के बिना ही स्वयं अपने भाव से करती कराती, चलती चलाती सारे जगत् में एक व्यक्ति से लेकर अनन्त व्यक्तियों में उत्पन्न करना, स्थिर करना और मारना या नाश करना रूप कार्य कर रही है। यही प्रकर्ष अर्थात् स्वयं में अपने-आप (में) करने की प्रवृत्ति यही स्वभाविक बन्धन है।

(22)

जितना भी अनर्थ संसार में होता है, वह सारा प्रकृति शक्ति के धक्कों के कारण से होता है, जोकि बिना विचार के ही मनुष्य को चला जाते हैं। यदि आपने यह आदत डाल ली कि जो भी काम करना है, उसे स्मृति के साथ और अपने-आप को सम्भाल करके करने का यत्न करना है और काम करते-करते भी पहचाने कि "मन किधर जा रहा है", तो ऐसे में समझो! कि आप महाकवि भारवि के शब्दों में विमृष्यकारी हैं। उस महान कवि की उक्ति के अनुसार "विमृष्यकारी (सोचकर काम करने वाले) के चारों तरफ सम्पतियाँ लिपटती हैं, और अविवेकी (बिना सोच विचार के जल्दबाज़ी में काम करने वाले) के चारों ओर मुसीबतें चक्कर काटती रहती हैं।

(7) धर्म, धर्म का मार्ग, धर्म के तीन स्तंभ (Right Path)

(1)

धर्म नाम है धारण करने का, जैसे कि मनुष्य को जो कुछ भी अपने जीवन में अपनी भलाई के लिये अर्थात् अपने कल्याण के लिये या अन्तिम भले के लिये व सनातन (सदा बने रहने वाला) सुख के लिये जो कुछ भी देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि द्वारा करने योग्य है उसको ही करना और वैसे ही अपने जीवन को संसार में धारण करना। इसका नाम है धर्म अर्थात् वह मार्ग जो कि परमेश्वर या परमपद तक पहुँचाने वाला है। सादे भाव में धर्म शब्द का तात्पर्य है कि अपने आपको धार-धार के चलना, न कि बुराईयों के धक्कों से ऐसे मार्ग पर चल पड़ना जिससे कि पीछे पश्चात्ताप में रो-रो कर समय व्यतीत करना पड़े।

(2)

धर्म का रास्ता यही है कि थोड़ा आत्मदर्शी होना। 'आत्मा' नाम अपने-आप का है, और 'दर्शी' माने देखने वाला। इस प्रकार मनुष्य अपने-आप को देखने

वाला हो व अपनी लगन व सोच के बारे में विचार करे कि जिधर मेरी लगन है उसका अन्त भले में है या बुरे में होगा । यह एकान्त में पहला ध्यान है, जो कि अपने आत्म दर्शन द्वारा आरम्भ होगा। तो इस रास्ते से थोड़ा प्रकृति के बन्धन से निकलने के लिए पहले वह विवेक रूपी सामर्थ्य उपजायेगा।

(3)

साधारण भाव से 'धर्म' शब्द का अर्थ है कि मनुष्य अपने-आप को नाना प्रकार के दोषों की सरिता में बहता हुआ, समझ से अपने-आप को सब दोष विकारों से बचाता रहे। काम, क्रोध, अहंकार, आदि कई विकार मिथ्या कर्म करवाने में मनुष्य को धकेलते हैं; तथा वह प्रायः उधर बह भी जाता है और बाद में महादु:खी भी होता है। धर्म का मार्ग धारण करने वाला सब शुभ कर्मों को करता है। सादे भाव में धर्म शब्द का तात्पर्य है कि अपने-आप को धार-धार के सम्भलकर चलना, न कि बुराइयों के धक्कों से ऐसे मार्ग पर चल पड़ना जिससे कि पीछे पश्चात्ताप में रो-रो कर समय व्यतीत करना पड़े। मन को पवित्र रखने के लिये अपने शुभ विचारों को सदा जगाए रखना है। इस प्रकार सब बन्धनों से रहित होने का यत्न करते हुए वैराग्य, संतोष, तप, त्याग आदि गुणों को ग्रहण करते जाना है। इसका नाम है धर्म अर्थात् वह मार्ग जो कि परमेश्वर या परमपद पहुँचाने वाला है।

(4)

धर्म के तीन स्तम्भ बताये गये हैं, जिनके सहारे पर धर्म खड़ा है, वे हैं कर्म, भक्ति या ध्यान और ज्ञान; जिन्हें कर्मकाण्ड, भक्ति या ध्यानकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का नाम दिया गया है। प्रत्येक मनुष्य,जो धर्म को अपने मन में बसाना चाहता है, उसको तीनों की उपासना करनी पड़ती है। जब मनुष्य ठीक कर्मों को करने में दृढ़ हो जाएगा, तो उसमें ध्यान और भक्ति भी ठीक जगेगी। जब ध्यान और भक्ति ठीक होने लगेंगे, तो सत्य का ज्ञान भी होने लगेगा।

(5)

बाहर का सुख या आकर्षण, जो किसी प्राणी या पदार्थ के संग से मिलता है, वह थोड़े ही काल का होता है, तथा अनेक शर्तों से बंधा होता है। परन्तु मन

स्वभाव-वश सुख के बिना संतुष्ट नहीं होता और जहाँ कहीं भी उसको सुख दिखाई पड़ता है, या मिलने की आस होती है, उधर ही लपकता है। इसके विपरीत जो वस्तु या परिस्थिति मनुष्य को अच्छी नहीं लगती, उसका नाम दुःख है, और मनुष्य उससे पीछा छुड़ाकर दूर भागना चाहता है। ऐसी अवस्था में जब अन्य स्थानों में भी सुख नहीं मिलता तो उसके लिए एक ही रास्ता बाकी रहता है, वह है धर्म का रास्ता। साधक उस मार्ग पर चलना शुरू कर दे, जिसमें सुख ही सुख है, तो उसे बाहर के सुखों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(6)

साधक को धर्म के तीनों स्तम्भों का पालन करना अति आवश्यक है। पहला कर्म काण्ड, दूसरा भक्ति या ध्यान काण्ड, तीसरा ज्ञान काण्ड अर्थात् ज्ञान उपजाना। फिर चौथा वह है जिसमें मुक्ति पा करके उसमें प्रतिष्ठित हो जाना, अर्थात् उसमें बना रहने वाला टिकाव पा लेना। यही जीवन का परम लक्ष्य है। कर्मयोग से अर्थ है कि बुरे कर्मों को त्यागकर अच्छे कर्मों को अपनाना, और फिर पूरे ध्यान से उन्हें पूरा करने में जुट जाना। इस प्रकार का कर्मयोग धीरे-धीरे भक्ति तक ले जायेगा। कर्मयोग करते हुए पता लगने लग जाएगा कि मन थोड़े सुखों के लिए कहाँ-कहाँ भटकता है और इसको हम कैसे-कैसे बचा रहे हैं? यह सब मन का वृत्तान्त अन्दर जानना ही समझो! ध्यान योग शुरू हो गया। जब मन बाहर से हटकर अन्दर के विषयों के बारे में सोचने लग जाए और सोचने के बाद कुछ समझने भी लग जाए, तो सोचने का नाम ध्यान है और समझने का नाम ज्ञान है।

(7)

सुख और दुःख की संवेदनाएँ, व्यक्त भगवान् के रूप में बैठकर मनुष्य के अन्दर चक्कर चलाती हैं। यहाँ से उसकी चेष्टाएँ, वाणी व बर्ताव उस व्यक्त भगवान् से प्रकाशित होती हैं। यदि ठीक से इसे समझकर इसको प्रसन्न रखने का यत्न कर लिया, तो समझो! भगवान की भक्ति शुरू हो गई। सबसे पहले उसको धर्म यही धारण करना पड़ता है कि हे प्रभु! मैं तेरे ही सहारे हूँ, तेरी ही शरण में हूँ, मुझे तो सब देहों के बीच में आपको ही देखना है व शान्त आनन्द

रूप के ही दर्शन करने हैं। अच्छे कर्म, करते हुए, सब में ही ईश्वर को देखने का प्रयत्न करते जाना है। प्रारम्भ में व्यक्त भगवान् में टिकने से ही प्राणी अव्यक्त भगवान की ओर बढ़ पाता है, इसमें स्मृति, वीर्य (हिम्मत) व ध्यान तीनों आवश्यक हैं।

(8)

मनुष्य को ज्यादा भय (डर) अकेले में ही लगता है परन्तु सबके बीच में रहते हुए उसे नहीं लगता, कारण कि सबके बीच में ही बचपन से उसने अपने-आप की कुछ 'मैं' समझी हुई है, जो अकेले में उसे वह 'मैं' नहीं मिलती। साथ ही बचपन से उसे परवरिश के दौरान बहुत कुछ लोगों से सीखने को मिलता है साथ ही प्यार भी, तो स्वाभाविक रूप से उसका मन बहुतों में लगा रहता है। यह उसकी छुपी हुई 'मैं' है, जो जन्म के बाद, उसे दूसरों के संग से बाहर मिली है (अकेले में नहीं), जो समय के साथ बढ़ती जाती है और अन्तत: वह पूर्ण रूप से उस पर आधारित हो जाता है, अलग नहीं होना चाहता। इस छुपी हुई 'मैं' को शास्त्र के जानकार सत्व कहते हैं। इस विश्व व्यापक संसार में जो-जो उसकी कामनाएँ पूरी हुई हैं, उन सब के सहारे में उसकी 'मैं' टिकी हुई है, जिससे वह बिछुड़ना नहीं चाहता।

(9)

धार्मिक, आध्यात्मिक या परमात्मा के निमित्त जीवन स्पष्ट रूप से यह बताता है कि ये बाहर के प्राणी व पदार्थ (जो स्वयं नाशवान हैं) कहाँ तक बने रहेंगे? एक दिन इनसे वियोग अवश्य होगा। जब इनके साथ ही 'मैं' मिली है, तो वह इनके छूटने में रोयेगी (आहत अनुभव करेगी) भी। केवल अच्छे कर्म ही साथ देंगें, तथा ऐसे में जो त्याग व तप करना पड़े वह आवश्यक करना पड़ेगा। सबसे पहले अपनी देह के साथ जो फालतू विकार व मन की खुशी की आदतें चिपकी हुई हैं जो 'मैं' को टिका रही हैं उन्हें बिदा करना होगा।

(10)

अविद्या की शक्ति प्रबल, संस्कारन को जगाये।
[illegible] सब दु:ख मूल के, फिर बाँट जगत् को जाये।

(11)

धर्म के रास्ते पर चलने के लिए सबसे पहले परमेश्वर में पूर्ण श्रद्धा, जो पूर्ण है व अपने धाम में शान्त व आनन्द से बैठा है। सर्वगुण सम्पन्न है तथा सब दोषों से परे है। इस धर्म के मार्ग पर चलने के लिए आगे और तीन सहारे (शरण) लेने पड़ेंगे; एक तो भगवान् का, दूसरा भगवान् के द्वारा बताए गये रास्ते का अर्थात् धर्म का, और तीसरा सहारा भगवान् के भक्तों का है, जो उसके रास्ते पर चलने का उद्योग बनाए रखते हैं, उनके भी निदर्शन (मिसाल) से अपने मन को धर्म के मार्ग पर बनाए रखना है।

(12)

धर्म के रास्ते पर चलने के लिए पहला कदम श्रद्धा है, दूसरा है स्मृति। स्मृति व ध्यान का तात्पर्य यहाँ इतना ही है कि मनुष्य थोड़ा होश को संभालकर चलने की आदत डाले। फिर उसके बाद थोड़ी-सी हिम्मत करे कि खोटे रास्ते पर जाने से अपने को बचा सके अथवा गिरते-गिरते भी बचा ले। काम, क्रोध व लोभ की फुसलाहट से बचकर बुद्धि को स्थिर रखने की हिम्मत करे। तो ऐसे में जो कुछ समझ में आयेगा वही सत्य का ज्ञान होगा। यदि यह ज्ञान आने लग गया, तो बढ़ते-बढ़ते उसे वहाँ तक पहुँचा देगा जहाँ भगवान् अपने धाम में विराजमान है।

(13)

टारन को फिर धैर्य धर, इक-इक कर सब जान।
भले दुःख संग बसना पड़े, पर निश्चय सत्य पहचान।।

(14)

लम्बा जीवन डटा रहे, भली यह सत्य की राह।
चलता ही जन पहुँचता, पावे सत्य की थाह।।

(15)

पाछे को न सरकना, हटे तो जरूर पहचाने।
मन पुनः उत्तेजित करे, न अवसर खोये अनजाने।।

(16)

मिलेगा कब मत सोचिये, साधन अपना काम।।

मन में इच्छा जो बसी, फिर राह चलना बेकाम।।

(17)

जीवन साधन लक्ष्य है, दु:ख में जीना आये।

दु:ख टले सुख जो मिले, सो सुख आर्य को भाये।।

(18)

ऐसे दु:ख सब देख ले, और देख ले इसकी टाल।

टाल के सुख जो पा गया, सो नित्य मुक्त सुख भाल।।

विषय सुख, आया, गया, फिर-फिर इच्छा कराये।

सदैव बना तो क्या रहे, चंचल मन दु:ख पाये।।

(19)

धर्माचारण तीन प्रकार का बताया गया है; एक तो बाह्य आचरण अर्थात् बाहर सब प्रकार के अच्छे कर्म करना; दूसरा मन के अन्दर ध्यान द्वारा काम, क्रोध, संशय आदि विकारों को नष्ट करने के अनुकूल प्रयत्न करना; और भी जो इस उत्तम धर्म के मार्ग में चलने में शंकाएं इत्यादि हैं उनको दूर करना। तीसरा मन की शंकाओं का समाधान करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है; यह सत्य ज्ञान विवेक है। उस विवेक को ध्यान द्वारा उत्पन्न करना है। सारे शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान बिना बन्धन नहीं टलते। "*ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः।* ज्ञान तो चाहिए ही, ज्ञान से ही मनुष्य अपने-आप को सम्भाल सकता है। ज्ञान से ही प्रकृति के बंधनों व जोशों की भंयकर तरंगों में वह बिना विचलित हुए सही मार्ग पर सम्भलकर चल सकता है। इसी के द्वारा मनुष्य वेदान्त में बताये गये तीन सत्य हैं, (1) जीव (2) परमात्मा और (3) जीव परमात्मा में भेद करने वाली माया। अब इन तीनों को किस प्रकार से मनुष्य को अपने व्यावहारिक जीवन अर्थात् जो आगे कदम उठाने का जीवन है, उसमें लाया है।

(20)

दर्शन का तात्पर्य है, प्रत्यक्ष या साक्षात्कार करके, सत्य देखना तथा अपनी बुद्धि द्वारा अनुभव से उसको प्रमाणित कर देना। जब तक आप उसे प्रमाणित नहीं करेंगे तब तक वह दर्शन नहीं है। हमारे छः दर्शन हैं, जो प्रत्यक्ष रीति से मन में दिखने में आते हैं। यदि आपको प्रत्यक्ष वेदान्तों का दर्शन हो गया कि जीव और ब्रह्म क्या होते हैं, और उसका फल, अनंत सुख क्या होता है ? तब तो समझो ! आपने उसे जीवन में प्रमाणित कर दिया। अब इसको प्रमाणित करने में बाकी सारे शास्त्र आपकी सहायता करेंगे। मीमांसा, न्याय आदि भी आपके जीवन में आने लगेंगे। अब उनको मनुष्य अपने सादे जीवन में उतारने का यत्न करे।

(21)

प्रारम्भ में भौतिक सुखों में लिपायमान जकड़े मन को धर्म का मार्ग दुर्गम-सा प्रतीत होगा और उसके उत्साह में भी उसे क्षीणता (कमी) प्रतीत होगी। ऐसी अवस्था में भगवान् के तथा भगवान् के मार्ग पर चलने वाले प्रेमियों पर तथा वर्तमान के संतों के तजुर्बों पर श्रद्धा उसके गिरते हुए मनोबल को सहारा देकर पुनः उठा लेता है। ऐसे में मनुष्य को तीन प्रकार की श्रद्धा की परम आवश्यकता है : (1) नित्य मुक्त भगवान् में श्रद्धा (2) उनके बताए सर्वांग पूर्ण धर्म में श्रद्धा (3) मार्ग में चलने वालों में श्रद्धा। इस प्रकार तीन प्रकार की श्रद्धा सहित मनुष्य भौतिक बन्धनों से मुक्त होने के मार्ग पर चलने का उद्योग कर सकता है।

(22)

तब तेरी मुक्ति, निश्चय सदा ही सुहाय,
नहीं तो यत्न करके पाछे, चिर से मिलाय।
सदा मुक्त मन शोभे सदा बुद्धि संग;
करे ज्ञान बल से युक्त स्व पर दुःख भंग।।

(23)

दृष्ट पर का अपराध मन को उग्र बनाय,

या में शील रखना कठिन दिखाय।

उग्रता त्याग हेतु करुणा बसाय;

सुधार में ही सुधी दुःख-शम सुख पाय।।

(24)

पहले देखेंगे तुझे दूसरे महान्

बहु पाछे होगी तुझे अपनी पहचान।

पहले निज में निज से बना है जो बड़ा;

उसे देखा सभी ने एक दिन गिरा पड़ा।।

(25)

धर्म का तो वीर करे धर्म से अभियान,

न कि राग, द्वेष, मोह बन्धन, भय मान।

सब विषयों के संग को दे वह निज मन से भूला;

नहीं सो महावीर जो जग में ही जा रुला।

(26)

अपने अंदर छुपे हुए ब्रह्म को समझने के लिए, पूर्व के महान् ऋषियों के बताए हुए उपायों को, जो उन्होंने बड़े उद्योग द्वारा सतत् अनुसंधान करके लिखे हैं, मुमुक्षु पहले तो उन्हें समझे फिर उन्हें जीवन में उतारे। पर यह विद्या तब ही समझ में आयेगी जब आप अपने ध्यान को संसार से मोड़कर अन्दर की तरफ लाओगे। इसके लिए कुछ कर्मकाण्ड भी करना होगा। इसी प्रकार भक्ति काण्ड व ज्ञान काण्ड का भी सहारा लेना पड़ेगा। इसी हेतु साधक को उन्हीं महात्माओं व ऋषियों द्वारा बताये गए धर्म के तीन स्तम्भों को सुदृढ़ करना

होगा, पहला खम्भा कर्म, दूसरा भक्ति और तीसरा ज्ञान जिन पर धर्म का मकान खड़ा है। धर्म इन्हीं पर टिका होने से तीनों पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

(27)

जब तक आप अपनी छुपी आत्मा को नहीं पहचानते हैं, तब तक ही द्वैत है, अर्थात् तुम अपनी सत्ता 'मैं' को दूसरों से अलग ही समझोगे व देखोगे। पर जब आत्मा को पहचान लिया और आप उससे जुड़ गये, तब जहाँ बैठे हैं कोई डर, भय, शंका आदि नहीं और अपना-आपा आनंद में है। यह नींद का आनंद नहीं बल्कि जाग्रत अवस्था का ही आनंद है। इस अवस्था में वह निराकर ज्योति भी प्रकट है। ऐसे में उसके अन्दर से नजारे खुलने लग जाते हैं। शास्त्रों वालों के अनुसार जो अपनी शुद्ध रूप आत्मा को जानता है वह मृत्यु और शोक से तर जाता है: *"तरति मृत्युं तरति शोकं आत्मनि"*। शास्त्रों के प्रमाणों के अनुसार, इन नजारों में अनन्त जन्मों की पीढ़ियाँ भी इसमें आ जाती हैं। इसी को लेकर ज्ञानियों ने कहा है – *"आत्मा सो परमात्मा।"* यही वेदों में भी कहा है कि धर्म मार्ग पर संभल-संभल कर चलते हुए जो आत्मा तक पहुँच गया, तो उसके लिये कहा है *"तत्वमसि"* अर्थात् वह तुम्ही ही हो अर्थात् तुम्ही ब्रह्म हो।

(28)

धर्म के मार्ग में सबसे बड़ा दान "मैं" को त्यागना है। इसके साथ मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, शील, क्षमा, दान, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा, इन दस बलों के सहारे इन्हीं को बढ़ाते हुए दूसरों में और अपने में (आत्मा में) साधक मुक्त, सुखी और स्थायी शान्ति रूप परमपद को पाएगा। साथ ही सारी आयु यदि कोई संसार में सबके बीच में रहता हुआ भी इस प्रकार अपने को साधता जाए, तो कभी भी, कहीं भी उसके लिऐ कोई समस्या नहीं रहती। महान् पुरुषों के जीवन का अध्ययन करके उनके आदर्शों पर चलने की इच्छा व चेष्टा करे। साथ ही ऐसे में जो तंगी हो (कष्ट हो) उसे सहज भाव से सहन करे। इन दस बलों से युक्त व सामर्थ्यवान होकर संसार के भव बन्धन से निकल जाना है अन्ततः वह अपने परम लक्ष्य को पा लेता है अर्थात् सत-चित-आनन्द की

अनुभूति प्राप्त करके अनन्त शान्ति व आनन्द के सागर में तैरता रहता है।

(29)

गीता में भगवान् कहते हैं कि तुम बुद्धि का योग रखो। सोच करके, समझ करके थोड़ा विश्लेषण व छानबीन करते हुए हर वस्तु की वास्तविकता को पहचानो कि क्या चीज़ क्या है? बस! देख-देख कर चिन्तन करते-करते अपने-आप को सम्भालते हुए चलने से, पहले पगडंडी व फिर सड़क बन जाएगी, जिस पर सम्भली हुई धर्म की गाड़ी आराम से चलेगी। इस तरह से सम्भलते-सम्भलते जो साधक आत्मा तक पहुँच गया, उसके लिए है- *"आत्मा सो परमात्मा"*। यही वेदों ने भी कहा है *"तत्त्वमसि"*, वह तुम्ही हो। ऐसे उत्तम वाक्यों के सही अर्थ समझ में आने हेतु सही भाव भी बनेंगे। इस सबके लिए उद्योग आवश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि करके बन्धनों को पहचानो और उनको टालो। बन्धनों से टला हुआ ही मन हल्का होगा और फिर उसके अन्दर प्रभु की ज्योति जगेगी। जैसे-जैसे आप दूसरों से न्यारे होते जायेंगे, उतना आप अपनी आत्मा में आते जायेंगे।

(30)

धर्म के मार्ग में अर्थात् आध्यात्मिक जीवन यापन करने हेतु सारे खोटे कर्म छोड़ना व उनके स्थान पर अच्छे कर्म करना। फिर मन के भावों को भी शुद्ध रखना, दूसरों के सुख में मन मैला नहीं होने देना। दूसरों के दुःख में दयाभाव रखना, गुण तो देखना पर अवगुण नहीं देखना। अपना व्यवहार सदैव सही रहे, दूसरे का कैसा भी हो उसे आराम से सहन कर ले। ऐसे भाव आपको भगवान पाने के रास्ते में भी सहायक होंगे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का व्यापक में भी कोई वैरी विरोधी नहीं होगा। मनुष्य का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि भगवान् से प्रार्थना करते हुए यत्न करे के खोटे कर्म ही न हों, यदि हो भी जायें, तो फिर पुनरावृत्ति न हो और आगे से सभी अच्छे कर्म हों।

(31)

धर्म के रास्ते पर चलने के लिए सबसे पहले परमेश्वर में अटूट श्रद्धा होनी

चाहिए, जो पूर्ण है व अपने धाम में शान्त व आनन्द से बैठा है। सर्वगुण सम्पन्न है तथा सब दोषों से परे है। दोष तो सब जीवों में ही हैं, परन्तु मनुष्य अपने दोषों को स्वयं ध्यान द्वारा अपने व्यवहारिक जीवन में पहचाने। यदि अपने दोषों को पहचानता हुआ व उनके बारे में शब्द बोल-बोल कर उन दोषों को दूर करने के लिए एकान्त में बैठे, तो यह भी एक प्रकार का जप आदि के समान भगवान् का ध्यान हो जायेगा। मनुष्य को इसके लिए तीन सहारे लेने पड़ते हैं; एक तो भगवान् का, दूसरा भगवान् के द्वारा बताए गए रास्ते का अर्थात् धर्म का और तीसरा सहारा भगवान् के भक्तों का है, जो उसके रास्ते पर चलने का उद्योग बनाए रखते हैं। उनके भी निदर्शन (मिसाल) से अपने मन को धर्म के मार्ग पर बनाए रखना है।

(32)

धर्म का संगी न मिलने पै शोक में कभी न खोये,
धार्मिक जन का जीवन खोज़े कभी हुआ जो कोये।
पूर्ण प्रज्ञ सर्वज्ञ की चर्या में श्रद्धा राखे प्रीति;
उन्हीं के पद चिन्हों का हो अनुगम छोड़े न उनकी रीति।।

(33)

पहले का उठना कठिन न होई पाछे का उठना शूल,
जब चीनो, यदि तभी नहीं सुधरे जाय संग सो मौत के भूल।
बाहर की तो जन बहु कुछ जाने, अन्दर अन्ध तम छाये;
बिनु, अन्दर की नियति जाने दुःख से कौन बचाये।।

(34)

हर्षित, दीपित, प्रेरित करना यही शब्दों का काम,
पूर्वजों की धर्म की संज्ञायें यही सब सत् के नाम।
सन्मार्ग पै चलने के हेतु करना इन्हीं का ध्यान;
जगे विवेक, विचार से इनके, शम सुख मुक्ति निधान।।

(35)

जग से मन का बुझता जाना यही है पद निर्वाण,

ध्यान में इसका सत्य पहचाने जग रण जित ब्रह्म बाण।

रहे न इसमें रहने की इच्छा पूरण हो वैराग्य;

जो कहीं नहीं देवन में रम्यो सत्त्व त्यागे सौभाग्य।।

(8) तृष्णा (Insatiable worldly passion) (खण्ड 5 भी देखें)

(1)

मन में प्रहर्ष बहु तृष्णा का प्रकोप,

उद्धता कुकृत्य कराकर करे मति लोप।

अधिक खावे, अधिक बोले, करे अधिक पाप;

रोग, शोक, दण्ड (रूप में) पावे आत्मा का शाप।।

(2)

तृष्णा की प्रतिक्रिया का, जब शान्त होगा मन,

तब ही जागेगा बोध और सुख पावे तन।

स्पष्ट सारे बंधन झलकें, गलित भी हो जायें;

ज्ञान व विमुक्ति के झरनों में जो नहाये।।

(3)

तृष्णा विषयों की आये, याद सुख की दिलाये, बहु मन को लुभाय है,

अनास्था कराये, सच्चे धर्म को भुलाये, और दुःख से डराये है।

वीर्य विघ्न हटाये, स्मृति ध्यान को बुलाये, या से सत्य को चमकाये है;

श्रद्धा ही बचाये, वीर्य विघ्न टलाये, स्मृति ध्यान को बुलाके,

सकल सत्य को सुझाये है।।

(4)

कैसे-कैसे खाने खाये, मन वहीं का वहीं,

भोगों की बीमारी देखो, है कितनी घनी।

(5)

कितना अधिक खाना खाया, भूख फिर भी है तनी,
तृष्णा कि व्याधि परखो, है कैसी सुघनी।

(6)

तृष्णा का अर्थ प्यास है। अपनी आत्मा को छोड़कर बाह्य संसार में भागना ही तृष्णा का स्वरूप है। 'तृष्णा' या किसी वस्तु को पाने की चाह या प्यास में मनुष्य का मन सिवाए उसको पाने के कहीं नहीं लगता। इस मन के न लगने को 'अरति' कहते हैं, जो तृष्णा की सखी है और उसके साथ ही बस्ती है। ये दोनों ही (अरति व तृष्णा) मनुष्य को अकेले में आसन पर या ध्यान में टिकने नहीं देतीं और उसे संसार की ओर ही ले जाती हैं। इसलिए समस्त दुःखों की जड़ यह तृष्णा ही है। यदि तृष्णा मन में न हो, तो यह प्राणी आनन्द से निद्रा की अवस्था के समान आपने-आप में आनन्दित रहता है।

(7)

राग-द्वेष यही दोऊ तृष्णा, इसकी बहु संतान,
परिहति इसकी करे से सुखी हो, वही हुये मतिमान्।
चेते जो इससे, सोई हुये चेतन, बन्ध विमुक्ति पायें;
बहे जो इसमें जड़मति रह गये, जग में सदा रुलायें।।

(8)

बाहर जो कुछ जानन चाहे, करे परेशान,
करना, पाना जो कुछ सोचे, वही नुकसान।
इन दोनों में निहित जानों, प्रिय वस्तु संग;
इनके त्यागे बिना, न हो सकल दुःख भंग।।

(9)

रहा न कुछ भी जानना तो मिटा अज्ञान,
करना पाना भी न रहे ब्रह्मात्मा पहचान।
जानना पाना जो रहा ये दो ही भव की पाश;
इन दो का बंधन न रहे तो सर्व दुःख नाश।।

(10)

तृष्णा के दो रूप हैं -भव तृष्णा तथा विभव तृष्णा, पहली रजोगुणी है व दूसरी तमोगुणी। ये दोनों तृष्णाएं आकर सुख का प्रलोभन दिखाकर या तो खाने पीने और बाहर की संगत करने की ओर मनुष्य को ले जाएंगी या आसन का दुःख दिखाकर साधक को निद्रा की तरफ प्रेरित करेंगी। ऐसे में तृष्णा का विरोध करने में दुःख प्रतीत होगा, तथा संशय, इच्छा, क्रोध, आदि भी मन में आयेंगे, जिन्हें ज्ञान द्वारा बुद्धि को चेतन रखते हुए टालते जाना है, साथ ही निद्रा को भी दूर रखने से तृष्णा शाँत हो जाएगी। तब शांत सुखी मन से जाग्रत बुद्धि सत्य की सफल खोज़ करने में समर्थ होगी।

(11)

तृष्णा का झूठा सुख ज्ञान की दृष्टि से समझ लेने पर मन भयंकर दुःखों का उनमें दर्शन करता हुआ उन सबसे मुँह फेर लेता है, तथा ऐसे में वैराग्य नाम का गुण मन को शांत कर देता है। शान्त मन में आत्मा स्थिर हो जाती है, और तृष्णा के दृष्टि, संशय, काम, राग, द्वेषादि के बन्धनों के भार से हल्की हुई-हुई अपने-आप में प्रकाशित तथा आनन्दित अनुभव में आ जाती है। इस प्रकाशमय, आनन्दमय स्वरूप के झलकने पर अपने-आप का अस्तित्व न खोने का अनुभव भी होता है तथा सब दुःखों से छुटकारा हो जाता है। यही परमपद माना जाता है।

(12)

तृष्णा बढ़े वृद्धता की ओर,
रहें जो अधूरे दोनों छोर।
इसकी तृप्ति संग बढ़े रोग;
रहे (छूटे) जो अधूरी, दुःख योग।।

(13)

तृष्णा बढ़े वृद्धता की ओर,
आलस, निद्रा छाये घनघोर।
इनको तोड़े महा उद्योग;
नहीं तो अन्त मृत्यु का ही योग।।

(14)

तृष्णा बढ़े वृद्धता की ओर,
बढ़े इससे रुग्णता का जोर।
दुःख में दिन बीतने न पाये;
यही तो पुनः मौत को बुलाये।।

(15)

तर तम भाव की ओर है जो पहचान,
टले मोटा दुःख हो छोटे में सुख भान।।
तृष्णा का बड़ा सुख ही जो मन में बसाये;
उस बाल का सुखीपना दिनों दिन हराये।।

(16)

जग के सुख में ही माने जो बहुमान,
उसके सुख की बनी न रहे शान।
गया सुख, हुआ मान तभी लुप्त;
रहा वह कौन ? रहा जो इनमें सुप्त।।

(17)

जब लो मन में अटकी, कोई जगत् की ही शान,

तब लो मति भटके, नहीं आत्मा का ज्ञान।

टिके न जग का सुख, भटकावे क्षण का आवेश;

हा! हा! अवसर खोये न छूटे बन्धनों का लेश।।

(18)

बिना बन्धन छूटे कैसे पहुँचे आत्म देश ?

काम का किंकर भागे पा के उसका ही निदेश।

कल्पना में कुछ भी दीखे जैसे रहे हमेश;

परिवर्तन का नियम न छोड़े, उसका कहीं भी लेश।।

(19)

पूर्व परिचितों में कितनी तेरी बनी रहे झोक ?

और उनके संग कितना परिचित चाहे मैं का लोक।

ऐसी तृष्णा के रहते, हो कैसे आत्म प्रकाश;

और वैसे ही फिर परमात्मपद पाने का अवकाश।।

(20)

आगे-आगे भागते का पाछा गया खोय,

आशा का आगा न मिला पाछे को भी रोय।।

आगा पाछा दोनों खोके पड़ा मंझधार;

धर्म की नाव बिना, हो कैसे बेड़ा पार।।

(21)

मन में जग का अच्छा लगना, यही तृष्णा का मूल,

बढ़े हैं इसी से सारे बंधन और बढ़े हैं शूल।

ध्यान से प्रज्ञा प्रकट जो कर सम्यक् सत्य सुझाये;

सम्यक् साधित मन तभी निश्चय नित्य सुख को पाये।।

(22)

बिना सत्य जाने चाहे करो परिहार,

मन परन्तु पड़ा रहे तृष्णा के ही द्वार।

जहाँ इसकी वस्तु होगी वहीं मन जाये;

उसी की ही सोचता अभाव में रुलाये।

(23)

मनुष्य को भगवान् तक या भगवान की लीला को समझने के मार्ग में दो बड़े विघ्न आते हैं जिन्हें 'भव-तृष्णा' तथा 'विभव-तृष्णा' कहा गया है। भव तृष्णा से तात्पर्य है कि आँख खुलते ही प्राणी बाहर संसार में ही भटकना या लपकना चाहता है, अर्थात् बाहर संसार के क्षणिक सुखों को प्राप्त करने की आदतें ही उसको हरदम खींचती रहती हैं। विभव तृष्णा से अर्थ है निद्रा (नींद) रूपी विघ्न का अर्थात् वही प्राणी जब बाहर संसार की आदतों को पूरा करते-करते थक जाता है, तो वह सबको लात मार कर निद्रा (गहरे अन्धकार) में चला जाना चाहता है। तो दोनों ही प्रकार से वह आनन्द रूप भगवान जो उसके भीतर है, अज्ञान के पर्दे (अविद्या) से ढका रहता है, उससे अनभिज्ञ ही रहता है तथा इन दोनों प्रकार की तृष्णाओं के विघ्नों में ही फंसा रहता है। मनुष्य को इन विघ्नों को उद्योग से सामर्थ्य द्वारा जीतने का प्रयास करते रहना चाहिए।

(24)

इच्छा तो शाश्वत रहे, तृष्णा जा का नाम।

पूरी होन न पावती, रोग, शोक, अन्जाम।।

(25)

इच्छा विषय न भूलती, यही राग का चित्त।

मन तनाये जो बनी रहे, क्या हित कियो सब वित्त।।

(26)

क्षण-क्षण इनका सामना करे, भले दुःख होय।

यही जीवन सही साध ले, अभद्र न कुछ भी होय।

(27)

उठत, बैठत, हर हाल में, मन अपने को पहचाने।

सही राह पै ठेपत रहे, राह की अड़चन नहीं माने।।

(28)

कहाँ-कहाँ मन बन्ध रहयो, भलो पहचानो जाये।

तेज नज़र बस चाहिये, छुपा न कुछ भी रहाये।।

(29)

जगा जगाया सत्य जो, टिका रहा मन माहीं।

सही मन को प्रेरित करे, उत्साह और हर्ष बसाहीं।।

(30)

सत्य दृष्टि जो बनी रहे, अहित और हित दिखलाये।

हिम्मत बन्धे कुछ करन को, दुःख ज्यादा न डराये।।

(31)

चलते का है रास्ता, करते को ही काम।

हिम्मत से ही सिरे चढ़े, परिश्रम बने इनाम।।

(32)

'नहीं रहा' तो रहन को, फिर पाछे की खींच।

सो तृष्णा दुःख बल करे, सगला पाछा खींच।।

(33)

दु:ख का तेज तनाव है, धैर्य धरण न दे।

सुख का भी लालच बड़ा, क्षण भर टिकन न दे।।

(34)

इन दोनों के कारणे, जग में होना चाहे।

बहुतों में इक बन गया, सो भव का नाम धराये।।

(35)

जो यह यूँ तृष्णा बढ़ी, पावे न भव की राह।

कुछ उल्टी रचना राचती, विभव नाम की चाह।।

सुस्ती, आलस, नींद कर, और अन्त समय को मौत।

रचन विघ्न सब दूर कर, नव भव रचन का स्रोत।।

(36)

धर्म के पथ पर मनुष्य अपनी आत्मा को ऐसा साधे कि जैसी सुख मिलने की वस्तु है उसी के अनुसार ही अपनी आत्मा में करने के लिए ढल जाए। यदि उसने इतना अपनी आत्मा को वश में कर लिया, तो फिर हानि (नुकसान) करने वाली वस्तु भी टाल दी जायेगी। इसके लिए पूरी ईमानदारी से जीविका कमाना, मिथ्या कामनाओं (होड़ा-होड़ी) का और 'तेरी-मेरी' का त्याग करते जाना है। मतलब यही है कि पहले अंदर से बाह्य संसार के सुखों की तृष्णा की दासता से छुटकारा पाना है ताकि आत्मा का सुख प्रकट हो।

(37)

जगत् के बन्धन तोड़ने हेतु, (यह) छोड़े पहले पाप,

हिंसा, चोरी, जारी, झूठ और नशे का अभिशाप।

बढ़ती चलती सुख की तृष्णा सारे पाप कराय;

सुख इसका भी नहीं टिकाऊ, दु:ख भारी भी बुलाय।।

(38)

तृष्णा माँगे दिनों दिन अपना आहार,

दूजा बहु कुछ दीजे नहीं परिहार।

नित्य निरंतर रोग बढ़ता ही जाये;

सुख की तो कथा छोड़ो दु:ख से बचाये।।

(39)

दु:ख के हों लम्बे-लम्बे क्षण,

उन्हें परखता जागे जीते जग रण।

तृष्णा का तनाव सहता जाये;

क्षण-क्षण चेता चित्त भी रमाये।।

(9) मुक्ति (Freedom from Worldly Bondage/ Deliverance)

(1)

इस ब्रह्म का प्रकाश या अनुभव करने के लिये मनुष्य को अपने-आप में ही आत्मा का व्यक्त भाव व प्रकाश पाना पड़ता है, अर्थात् आत्म- साक्षात्कार करना पड़ता है। अपने अंदर आत्मा का प्रकाश भी दो प्रकार से हो सकता है; एक तो बाहरी या सांसारिक प्राणी व पदार्थ के संग से और दूसरा इनके बिना केवल तृष्णा का दु:ख और उसके बन्धन को मिटाकर केवल बिना उपाधि आत्मा के निजी सच्चिदानंद रूप का होता है। इसी सच्चिदानंद को निरुपाधि (बिना किसी बाहर की उपाधि के) यदि सब में समान रूप से समझा जाए, तो यह व्यापक ब्रह्म कहा जाएगा तथा उसका साक्षात्कार माना जायेगा। यही मुक्ति का स्वरूप है।

(2)

निश्चय टलेगा दु:ख चाहे नींद क्यों न आये,

दे नींद को बिसार मुक्ति सुख, समाधि पाये।

घटने पै दु:ख को चीन ले कारण निचय का योग;

दीखे यही सर्वत्र तो मिटे भव का दु:ख रोग ।।

(3)

दूसरों की दासता न होने का अर्थ है मुक्ति (संसार से छुट्टी), जो अपने-आप में मन लगाने से ही प्राप्त होती है। मन को लगाने का रास्ता केवल उस भगवान् की शरण (ईश्वर प्राणिधान) है जो सदा आनन्द-रूप, सुख-रूप, ज्ञान-रूप व सदा बना रहने वाला है, और हमारे अन्दर ही विराजमान है। परन्तु मनुष्य का मन इसमें न लग करके बाहर संसार में ही प्रकृति के जाल में ही उलझा रहता है। अविद्या हटने पर ही अंदर भगवान् का रास्ता मिलने लगता है और यदि उसकी इस भगवान की ओर चलने की हिम्मत बन गई, तो उसको दूसरों की दासता की कोई जरूरत नहीं होगी।

(4)

मुक्ति का अर्थ है सब बन्धनों से अर्थात् मानसिक, बौद्धिक, ऐन्द्रियिक एवं देह आदि के मिथ्या कर्मों से भी छुटकारा पाकर अपने-आप में या केवल आत्मा में ही स्थायी शान्ति पा लेना। थोड़े में इसका यह भाव है कि अविद्या से लेकर मान, मोह, राग-द्वेष आदि दस बन्धनों से छुटकारा पाना और छुटकारा पाकर अपने आत्मा में होने वाले सुख का साक्षात्कार करना और तृष्णा के दुःख से सदैव काल के लिये छुटकारा पाना। मुक्त आत्मा का अपने-आप में साक्षात्कार करके पुनः इसी शुद्ध चेतन रूप आत्मा को सबके अन्दर अनुभव करना ही ब्रह्म साक्षात्कार माना जाता है।

(5)

सारे धार्मिक जीवन का सार बिन्दु यही है कि मनुष्य थोड़ा-सा अपने जीवन को पहचाने कि यह जीवन किधर जा रहा है व कहाँ उसकी परिणति (समाप्ति) है? यदि बाहर के सुख की ही तृष्णा को ले करके उसी के रास्ते (तरीके) से रहना हुआ, तो हाय-हाय ही हाथ लगेगी। धर्म के मार्ग पर चलने वाले को यही सोचते रहना चाहिये कि ये बाहर के सहारे जो जीवन है, उसके सुख अन्त (खत्म होने) वाले हैं, व उनके पीछे असंख्य अनर्थ व दुःख हैं, अतः उनसे बचने के लिए अविलम्ब थोड़ी अपनी आत्मा को जगाना शुरू कर दें। सर्वप्रथम अपनी अन्तरात्मा का और अपने-आप का ज्ञान जगाकर अपने

विकारों को पहचानकर उन्हें टालते जाना। संसार में ही कुछ-न-कुछ होकर केवल इसकी रौनक ही नहीं चाहिए, बल्कि अपने अन्दर के अन्तिम भले पर भी दृष्टि रखनी है। इस प्रकार संयम में रखने का जीवन ही सही रूप में अपना होगा और वह ही ध्येय की प्राप्ति में सहायक होगा।

(6)

अन्धकार में जगा मन आपको सारे संसार का ज्ञान देगा। मन की समझ से ध्यान व चिन्तन करने से जो मुक्ति मिलेगी, वह ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति है। नींद और संसार की लपक से रहित यह ज्ञान "भगवान कृष्ण के अवतार" समान ही होगा जो इस शरीर (देह) में सब काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या रूपी राक्षसों को समाप्त कर देगा, क्योंकि आपने दु:ख सहन करके तप करना सीख लिया है। इसी प्रकार ज्ञान को बढ़ाते जाना है। फिर जब ज्ञान मन में है तो मनुष्य न तो अकेला है और न ही उसे किसी पुस्तक या संगत की जरूरत रहती है।

(7)

माया के संग चेतन यह सब था अपना खेल रचाय,
भला बुरा कोई किस को देखे सब को यही चलाय।
जाने औ जन्मे नित-नित, क्षण-क्षण, कुछ-का-कुछ दिखलाय;
इसको जान बस! मुक्ति के हेतु, सब गुण मन में बसाय।।

(10) ज्ञान (Knowledge), विद्या (Practical Wisdom of right knowledge) (खण्ड 6 (अ) भी देखें।)

(1)

किसी भी वस्तु को मन, बुद्धि द्वारा समझना कि "यह वस्तु यह हैं" इसी का नाम विद्या है। इसी प्रकार जो अन्तरात्मा ज्ञान विज्ञान-रूप से सब में वर्तमान है, उसको उसी रूप में (ज्ञान विज्ञान रूप से) पहचान लेना यह परम विद्या है। इसी प्रकार संसार में विषयों को सुख रूप से जो मनुष्य समझते हैं, वह तो मिथ्या ज्ञान है, परन्तु उनको दु:ख रूप से समझना या अनुभव करना, यह भी 'विद्या' है। इसी प्रकार पहले जो वस्तु छुपी हुई है अर्थात् अविद्या से ढकी है, वह प्रकट ज्ञान

द्वारा "जैसी है वैसी" जानने में आ जाए तो इसका नाम विद्या है।

(2)

ध्यान से विद्या मिलती है, विद्या नाम ज्ञान का है और अन्तिम ज्ञान इस प्रभु (परमात्मा) का है, जो सबकी देहों के अन्दर बैठा है। वही सबको हरकत दे रहा है व सारे संसार को चला रहा है। यदि ध्यान में जा करके बारीकी से आप उसकी लीला देखना चाहते हैं, तो उसके लिये आपको केवल अज्ञान के पर्दे को जो उसको छुपाये बैठा है, उसे तोड़ने का और सारे संसार की उलझन से मुक्त होकर जागने का प्रयत्न करना होगा। जैसे ही अज्ञान का पर्दा टूटा, तो बस! उसके अन्दर आपकी सत्य की आँखें खुल गईं। जो कुछ वहाँ है, वह दीख जायेगा। यह सब अन्दर की लीला है, इसके लिए मन को जागते-जागते साधना है तथा कर्म स्थिरता एवं एकाग्रता से करने होंगे। स्थिरता व एकाग्रता ही ध्यान का सार है। ध्यान में यदि मन को साधना है, तो जीवन को ऐसा नियमबद्ध बनाना पड़ेगा कि सब कर्म ध्यानमय से होने लग जायें।

(3)

जग से मुखड़ा मोड़ के, मन कछु आने न दे,

रिक्त न सुख को पावता, बुरा हाल न टिकने मन दे।

ऐसे जब-जब रिक्त मन, हालत यही सुझात,

खाली मन लगता नहीं, अविद्या यही चिन्हात।।

(4)

हिम्मत कर जो याही में, मन को लेवे टिकाये।

भाव जो तंगी रचावता, उसी में मन को लगाये।।

(5)

यत्न से मन जागत रहे, अविद्या उल्टा बुझात।

यूँ चेतन मन होये से, अविद्या सब हर जात।।

(6)

यूँ यूँ हालत दु:खमयी, परेशानी संग तनाव।

खाली समझता मन जगे; शनै: शनै: छुप जाव।।

(7)

विज्ञप्ति साक्षात् जो सुहाय,

परखा क्षण-क्षण भी सब में जाय।

कहीं देखन को मिले न अज्ञान;

भागे भ्रम, भय जगे पै विज्ञान।।

(8)

साक्षात्कार क्षण का जो हो,

ज्ञान यही तारक, जड़ता देखो।

चेती चिती का जो नव-नव क्षण;

भासे उसी में जगत् का कण-कण।।

(9)

शक्त दीखे व्यक्त एक सब में महान्,

अव्यक्तता की दशा में ढके न उसका भान।

नव-नव क्षण-क्षण जैसे-जैसे भाय;

जग से पार तारे तारक मन को लुभाय।।

(10)

कभी न वह निज सुख के लिये बाहर झाँकता,

हर जो परिवर्तन अन्दर घटे उसको भाँपता।

बाहर के दु:ख संकट में न कबहुँ काँपता;

एकान्त में ही राम, सारा सुख को आँकता।।

(11)

बदलते मन की हर हालत की पहचान,

आगा व पाछा, व परिणाम का ध्यान।

विद्याओं में विद्या कृति सम्पन्न ज्ञान;

जो इनको जाने वही पूरण विद्यावान्

(11) पुण्य (Divine Merit) व पाप (Sin)

(1)

पुण्य मन के उस धर्म का नाम है जो कि मनुष्य को सुख उपजाता है। सुख उपजाने वाले कर्म पुण्य कर्म कहे जाते हैं। इसी प्रकार पुण्य की एक ऐसी सूक्ष्म अवस्था है जो कि मोक्ष के सुख की ओर अग्रसर करती है, जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का संयम सम्मिलित है। इस पूर्ण संयम से जो पुण्य उदित होता है, वह अन्ततः मोक्ष प्राप्ति का कारण होता है। पर ऐसे में सांसारिक सुखों की कामनाओं का त्याग करना आवश्यक है।

(2)

पाप मन का वह धर्म है जो मन के अन्दर सूक्ष्म रूप से या अदृश्य रूप से बैठा हुआ मनुष्य से कई खोटे कर्म कराता है जिससे उसे अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है। इन्द्रियों का असंयम जो मन बुद्धि की गलत सोच से होता है पाप को जन्म देता है तथा मनुष्य दुःख रूपी दुर्गति को प्राप्त होता है। ऐसा तब होता है जब मनुष्य में काम क्रोध आदि विकार उसकी हित-अहित की विचार करने की, समझने की बुद्धि को निष्क्रिय कर देते हैं। मनुष्य को पुण्य करते हुए, पापों से बचते हुए जीवन यापन करना चाहिये ताकि वह मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ता रहे। पुण्य का स्वरूप है, जोकि मनुष्य की बुद्धि को मनुष्यता के स्तर से नीचे न गिरने दे। इसलिए मनुष्य के लिए यह अति आवश्यक है कि वह बुद्धि रखकर सब पापों से बचता हुआ जीवन यापन करे।

(3)

सब में छिपा पाप क्या है ?
सब अनर्थों का जो मूल।
अविच्छिन्न बना रहने की चाह;
शाश्वत 'मैं' के रूप में शूल।।

(4)

पाप वही कर्म है जिसे हम दूसरों की दृष्टि से छुपकर करते हैं। जो सर्वव्यापक परमेश्वर है वह तो सबको सब जगह देख व समझ रहा है, जो एक रूप में आत्मा है, तो उस व्यापक की दृष्टि से आपका खोटा कर्म कैसे छुप पायेगा ? फिर यह पाप विशेषकर बड़े पाप तो प्राणी को अनेकों अगली (आने वाली) योनियों में भी अपना प्रभाव डालेंगे जिससे आप दुर्गति को प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए पापों व दुर्गति से बचने के लिए व्यापक की दृष्टि से निश्चय करो कि मन यदि खोटा कर्म करने के समर्थन में कहता है कि हाँ जी ! मैं अपने लिये कर रहा हूँ, क्या हर्ज है यदि खोटा कर्म कर भी दिया ? संसार में अन्य भी तो करते हैं। ऐसी स्थिति में मन से यह प्रश्न कर दो कि "खोटा कर्म जो तुम करने जा रहे हो, परन्तु क्या तुम इस कर्म को सबके सामने प्रकट कर सकते हो ?" तो यह मन ऐसा करने से डरेगा। यदि प्रभु कृपा से बुद्धि जाग गई, तो वह आगे से पाप करने से टल भी जायेगा।

(12) कर्म (Right or Wrong deeds)

(1)

जहाँ किसी भी कार्य करने में "एक काम-एक ध्यान" नहीं है, तो ऐसे में जिस समय आप आसन पर बैठकर ध्यान करेंगे, तो वहाँ पर भी काम (इच्छा) रूपी ठग, स्मृति (होश) को चुरा ले जाता है। ध्यान में ही काम (इच्छा) नींद लेने के लिये प्रेरित करेगा। काम (इच्छा) के सुख का तात्पर्य है कि काम (इच्छा) सुख के पीछे चलता है। जो मन को अच्छा लगे वही सुख है और वही उसे प्राप्त

होते रहना चाहिये। इसका नाम काम है। इस बन्धन से मुक्त होने के लिए अपने सारे कर्मों को निष्काम बनाओ अर्थात् कर्म करते हुए मन में किसी प्रकार की इच्छा नहीं लदी होनी चाहिए और पूरे मनोयोग से प्राणी कर्म में लगा रहे।

(2)

"एक मन, एक काम" तो तब होगा जब काम, भय आदि वाला मन, भय आदि को छोड़कर कर्म करने में पूरी तरह से लगा हुआ हो। काम (इच्छा) को त्यागकर कर्म के साथ जुड़ना ही निष्काम कर्मयोग है। योग नाम जुड़ने का है। इस कर्मयोग के अभ्यास के लिए शुरू में छोटे-छोटे कर्मों जैसे हाथ धोना आदि में भी भटकते मन को पहचान कर और फिर मन को बाहर से मोड़कर उसी कार्य में लगाने में सफलता पा ली, तो समझो! आपने ध्यान, स्मृति तथा वीर्य, तीनों बलों को एक साथ अपना लिया। इस प्रकार प्रत्येक छोटे बड़े कामों (हाथ धोना, दातुन करना, खाना पीना आदि) के करने में पाँचों इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिह्वा, चमड़ी) और छठा मन एक ओर लगा लिया, तो इसका नाम ध्यान या समाधि हो जाता है।

(3)

गीता जी में कहा है कि "मनुष्य कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।" अर्थात् कर्म तो करने ही पड़ेंगे। परन्तु कर्म को ऐसा बना देना है कि वह "भक्ति योग" बन जाए। यदि कर्म के साथ जुड़ करके आपको कर्म करना आ गया, तो कर्म के बीच में आपको समाधि भी होने लगेगी। कर्म के साथ जुड़ने से समझो! ध्यान भी हो गया और ज्ञान भी हो गया। यदि नाना प्रकार की मन की खींच को आप टालने लग गये, तो यही वीर्य बन जायेगा। ऐसे में यह पाँचों बल (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान (समाधि, प्रज्ञा) आपको संसार में सबके बीच रहते हुए भी न्यारा व बेलाग (अछूता) रखेंगे।

(4)

जप करने से इतना पुण्य नहीं है जितना कि विचार करके शब्दों को जगा करके समझ के साथ कार्य (कर्म) करके जीवन को सम्भालने में है। कर्मयोग की साधना में छोटे-बड़े कर्म के साथ मन को जोड़कर रखना है। मन को जोड़कर

रखने का नाम ही योग है। कामनाएं (इच्छाएं) हर समय मन में लदी रहती हैं। वे थोड़े सुख की इच्छाएं आराम से कोई भी कार्य करने नहीं देतीं। आपको कर्म में स्मृति को चेताते रहना है और वीर्य (हिम्मत) करके काम, क्रोध आदि खोटे विकारों को समझते हुए टालने का भी उद्योग करना है। इस प्रकार खोटे विकारों को पहचानना ही स्मृति है और उन्हें दूर करने का नाम वीर्य है। यही कर्मयोग है जिसका अभ्यास करना है, जिससे संशय, भय को छोड़ते हुए चलने की आदत पड़ जायेगी।

(5)

योग नाम जुड़ने का है। यदि कर्म के साथ जुड़ करके कोई कर्म किया जाए, तो वह कर्मयोग है। यदि प्राण की क्रिया के साथ जुड़कर श्वास लेते-छोड़ते गए, तो क्रिया-योग हो गया। इसी तरह यदि ध्यान में मन जोड़ दिया अर्थात् एक ही तरफ विचार करने में व विचार करके सत्य पहचानने में मन को लगा दिया तो वह ध्यानयोग है। थोड़ा-थोड़ा करते हुए ज्यों-ज्यों गहराई में जाते जाएंगे, एक दिन यही ध्यान योग व क्रिया-योग सारे संसार से आपका मन लौटाकर आपकी देह में इकट्ठा कर देगा। इस देह के अन्दर इकट्ठी हुई शक्ति सुख देगी। आपको मालूम होगा कि "संसार में बिछुड़ने के बाद तो सुख होता है, दुःख नहीं होता।"

(6)

जो क्रियाएँ कुछ उद्देश्यपूर्वक अर्थात् स्वार्थ को मन में रखकर की जाती हैं, या होती हैं, वही वास्तव में कर्म कहे जाते हैं। यह चार प्रकार के हैं :- 1. शुक्ल 2. कृष्ण 3. शुक्ल कृष्ण और 4. अशुक्ल कृष्ण। शुक्ल कर्म वे हैं जो संसार में सुख को उत्पन्न करते हैं, ये पुण्य रूप शुक्ल, स्वच्छ व शुभ कर्म कहे जाते हैं। इसके विपरीत जो दुःख देने वाले या दुःख को उत्पन्न करने वाले कर्म किये जाते हैं अथवा होते हैं ये पाप कर्म रूप कृष्ण कहलाते हैं। शुक्ल कृष्ण उन मिश्रित कर्मों को कहते हैं जिनके फल पुण्य पाप दोनों ही रूप से मिलते हैं। अशुक्ल कृष्ण, वे सभी कर्म हैं जो मोक्ष को प्रदान करते हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि सब अशुक्ल कृष्ण हैं।

326. सब प्रकार के कर्म तीन रूपों में मनुष्य के अन्तःकरण में बैठे रहते हैं: संचित, आगामी और प्रारब्ध। जो इनमें से इस शरीर (काया) को आरम्भ करके फल, सुख, दुःख रूप देने को अभिमुख (प्रस्तुत) व तैयार होते हैं, वही प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं और जो अभी होते जा रहे हैं और आगे फल देंगे, वे आगामी कहे जाते हैं। जो शेष पड़े हुए मन में संचित रूप से एकत्र हुए-हुए भोगने में अभी नहीं आये न ही जिनके कोई शीघ्र आगे भोगने में आने की सम्भावना ही है, यही सब संचित कर्म कहलाते हैं, जो अपने-आप से कभी भी नष्ट नहीं होते केवल ज्ञान की अग्नि से ही दग्ध हो पाते हैं। अर्थात् ध्यान में आत्म-साक्षात्कार होने पर ही ये सब कर्म जलकर भस्म हो सकते हैं।

(7)

जब तक कामना सिर पर लदी हुई हैं, तो निष्काम कर्मयोग नहीं हो पायेगा, फिर अन्दर से उत्पन्न हुआ निष्पक्ष (सच्चा) ज्ञान रूप भगवान् भी प्रकट नहीं होगा। प्रत्यक्ष ज्ञान रूप भगवान् बिना आपको कौन संभालेगा? सो उद्योग करके ज्ञान को जगाना है, क्योंकि जब तक यह ज्ञान नहीं जन्मेगा, तब तक शरीर में जमे हुए विकार रूपी राक्षस समाप्त नहीं होंगे और हम प्रकृति (आदतों) के गुलाम बने रहेंगे। अन्दर से उत्पन्न हुआ निष्पक्ष (सच्चा) ज्ञान ही भगवान् का पहला स्वरूप है। चाहे यह हमारे में छोटी कला रूप में उत्पन्न हो और धीरे-धीरे बढ़ता जाए।

(8)

प्रत्येक कर्म, भक्ति रूप (उपासना) से एकाग्रता पूर्वक करने से कर्मयोग बन जाता है, अर्थात् जो भी कार्य करें वह इतनी लग्न से जागते हुए (चेतनता से), एकाग्रता से करना है कि वह उस कर्म में खो जाए (समाधि लग जाए) भगवान् भी प्रेम उसी से करते हैं जिसकी लग्न उनके साथ जुड़ी हुई होती है। शास्त्रों में बताये अनुशासन के अनुसार ही ऐसी साधना करने से साधक की आत्मा, काम, क्रोध, सुख-दुःख के द्वन्दों से रहित हो जायेगी। परमात्मा प्राप्ति में पहला साधन कर्मयोग है अर्थात् कर्म में मन को जोड़ना सीखे। उसे भक्ति रूप में ही करना होगा।

(9)

कोई भी कर्म करें, तो उसमें पूरा मन लगाकर करें। ऐसी आदत पड़ जाने पर जब अकेले में आप बैठेंगे, तो आत्मा में भी मन को जोड़ने की आदत पड़ती जायेगी। जब तक मन को आत्मा का रस रूपी स्वाद का आकर्षण न मिले तथा बाहर की तरफ ही लपके, तो प्रयत्न से कर्तव्य समझकर, जोर जबरदस्ती से उसे अन्दर ही खींचकर अपनी अन्तरात्मा में लगाये रखना है, तथा ऐसे में जो दु:ख हो उसे सहते जाना है। बाहर बिखरे हुए मन को समेटते जाने पर वह अन्तरात्मा में स्थिर होकर अंदर के रहस्यों से परिचित होता जायेगा, जिसके लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान और प्रज्ञा आवश्यक हैं। यदि इस तरीके से मन लगाना आ गया, तो धीरे-धीरे यह मन अपनी आत्मा में भी लग जायेगा और लगा हुआ मन अपनी आत्मा और परमात्मा को, जो सब में एक रस है तथा व्यापक रूप है, उसे पहचान लेगा।

(10)

शास्त्रों के अनुसार मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसा ही अगला जन्म पाता है। पर सुख पाने हेतु पाप कर्म करने वाला प्राणी उस समय यह नहीं सोचता कि ऐसा करने से इसका क्या परिणाम होगा? पर सुख के कारण पाप कर्म करते समय इसका बुरा परिणाम बुद्धि में नहीं रहता और चोरी, कपट, मिथ्या कर्म छुपकर करता ही जाता है। जो कार्य प्रगट रूप में होते हैं वे पाप नहीं कहलाते हैं । केवल मनुष्य ही अपने जीवन को स्वयं पहचान सकता है, कोई दूसरा नहीं। अपने जीवन को मनुष्य ने स्वयं ही देखना है कि कहाँ-कहाँ मेरा मन पापी है और कहाँ-कहाँ पाप के स्थान में सुख खोजता है? तथा उस पाप से मुझे कैसे टलना है। खाली सुनने से संकट नहीं कटता। इतने भारी संकट से बचने के लिए मनन (विचार) भी करना होता है क्योंकि जब तक सुना हुआ आत्मा के अन्दर नहीं उतरा, तो लाभ नहीं होगा। आत्मा के अन्दर तो मनन से ही उतरेगा। मनन का अर्थ होता है कि सुने हुए को मन में घुमाना, जीवन में उतारना ताकि आगे से पाप कर्मों से बचा जा सके।

(11)

मनुष्य को जीवनयापन के दौरान अपनी देह, परिवार, समाज, व्यवसाय सम्बन्धी

अनेकों कार्य करने पड़ते हैं, तो उन कार्यों को करते हुए मन में द्वेष, क्रोध, अहंकार आदि का वेग यदि आये, तो उसे पहचान जाए व उसको वीर्य-भाव से टाल दे, यही सीखना है व मन को बोल-बोल कर समझाते रहना है। इस प्रकार कर्म करते हुए अपने कार्मों को उत्तम व स्वाभाविक बना देना है, जैसा भगवान् गीता में कहते हैं *'स्वभावजान् कर्म कौन्तेय'* इत्यादि। स्वाभाविक कर्म ये हैं कि आपने सब कर्म करो, पर कर्म को ऐसी भक्ति बना दो कि उस अवस्था में भी अपनी आत्मा को शान्त रूप से पहचानने के लिए आपकी आँख खुली रहे।

(12)

अपने-आप के साथ जुड़े रहने को शास्त्रों में 'योग' कहा है। "आत्म-संयोग" का अर्थ है अपने-आप से जुड़े रहना और जुड़े रहकर अपने-आप को संयम में रखना और सम्भालते रहना, आदत के रास्ते फिसलने नहीं देना। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि ऐसे आत्म संयम योगी में "मैं" सर्वदा सर्व-रूप में बसा रहता हूँ, क्योंकि वह समझता है कि जो चेतन पुरुष आत्मा, आनंद-रूप मेरे में है, वही चेतन पुरुष आत्मा आनंद-रूप सब में व्याप्त है, सभी जगह उसका ही राज्य है, वही खेल रहा है तथा दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार की साधना से भक्ति-भाव भी बन जाएगा जिसके कारण न तो कोई आपका बैरी है और न ही कोई मित्र। यदि आपका इस प्रकार का मन बन गया, तो ऐसे में आपकी निगाह चेतन ज्योति पर ही टिकी रहेगी। आपको सब जगह वही एक भगवान्, चेतन आत्मा, आनन्द रूप से देखने में आ रहा है। ऐसे पुरुष के लिए ही भगवान् गीता में कहते हैं कि 'मैं' सर्व रूप से ऐसे भक्त से बहुत प्रेम करता हूँ अर्थात् भक्त का ही बन जाता हूँ।

(13)

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है *"अनासक्तः कुरु कर्माणि"* अर्थात् हे अर्जुन तुम अनासक्त होकर कर्म करो, फल के बारे में न सोचो, जो कुछ होना होगा हो जायेगा, वह तुम्हारे बस में नहीं है। बस! अपनी तरफ से काम में पीछे न रहते हुए, अच्छे से अच्छे रूप में कर्म पूरे समय में करना है। कर्म करने के

पश्चात् कहना कि "हे प्रभु यह सब तुम्हारे अर्पण हैं" यह भावना रखनी है। आसक्ति छोड़कर अपने सब निमित्त आवश्यक कर्मों को करते रहना, साथ में अपने मन को पहचानते हुए, क्रोध, मान, अहंकार, राग, द्वेष, अविद्या आदि विकारों को दूर रखना। अपने सब कर्मों को भगवान के अर्पण करते रहना।

(14)

मनुष्य यदि 'तेरी-मेरी' या 'तू-तू', 'मैं-मैं' के छोटे दायरे में ही उलझा रहा, तो दुर्गति को ही पायेगा। ऐसी अवस्था से बचने के लिए शास्त्रकारों का कहना है कि साधन से अपने भावों को जगाओ और थोड़ा ध्यान को जगाकर जीवन के स्रोत व बहाव की तरंगों की असलियत को पहचानना है, जो मनुष्य को हर समय घुमा रही हैं, तो यह सब ध्यान है, अर्थात् अन्दर के सत्य को पहचानना। भगवान् गीता में कहते हैं *"ध्यानात् कर्मफलत्यागः"* अर्थात् ऐसे ध्यान से भी उत्तम है, सब कर्मों के फलों का त्याग करना। पर यह तब ही बन पायेगा जब साधक थोड़ा सत्य का ध्यान करने से सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि सदा एक जैसा कर्म का फल नहीं रहता। (कोई भी वस्तु या प्राणी की संगत सदा नहीं बनी रहती। तो फिर उसकी इच्छा भी क्यों करनी ?) इस प्रकार कर्म के फल से वैराग्य होने से मन शान्त हो जायेगा।

(15)

कर्मों के फलों का मन से त्याग और फिर उसके फलस्वरूप मन में शान्ति तब ही मिल पाती है जब मन विचार में, समझने में तथा बुराइयों (विकारों) को साफ़ करने में लगातार लगा रहे। सत्य को जानने हेतु तथा व्यापक (भगवान्) के प्रति भाव बनाने के लिए आपको कुछ उद्योग करते रहना होगा। यदि कहीं दूसरों के बच्चे खेल रहे है, तो उस समय आप को भी उन बच्चों को सुखी देखकर अपने मन में सुख अनुभव करना है। इस प्रकार से सारे संसार के सुख में मन को फैला लो। जब सारे संसार के बीच में आपका सुख (मैत्री) आदि का भाव फैल गया, तो ऐसा हो जाने पर आप सूर्य नारायण को प्राप्त हो गये। अब यही आपका ब्रह्मलोक है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब आप छोटे दायरे से निकलकर उसमें जाग गये, तो समझो! आपका मन ध्यान में जाग गया।

(13) भाग्य (Luck/ Destiny)

(1)

वर्तमान दुःख सुख के भोग से तो केवल प्रारब्ध ही समाप्त होता है और शेष कर्मजाल तो केवल उस ज्ञान अग्नि से ही समाप्त हो सकता है। अगर कोई साधक इसी जीवन में बहुत उद्योग व परिश्रम करे तो यह भी सम्भव है कि उसके सूक्ष्म क्लेश भी मैत्री आदि बलों की प्रबल भावना से नष्ट हो जाएं और प्रतिप्रसव (क्लेशों के विपरीत उत्तम गुण उपजाने से) द्वारा उसके मैत्री आदि से ही नवीन पुण्य उदय हो जायें और पूर्व का भाग्य भी क्षीण होकर उसकी इच्छानुसार शुद्ध जीवन की विभूति पाना रूप फल की प्राप्ति कर दे।

(14) पुरुषार्थ (End to achieve by Human Efforts)

(1)

धर्म ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाए गये हैं। जिस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए मनुष्य यत्न करता है, वह मनुष्य का प्रयोजन रूप पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है। मनुष्य को धर्म का आचरण करना भी उसके भावी सुख रूप प्रयोजन के लिए है, इसी प्रकार लौकिक सुख हेतु धन उपार्जन भी पुरुषार्थ रूप प्रयोजन है। और प्रकृति की जगत् चलाने वाली शक्ति, काम व काम सुख को भी पुरुषार्थ रूप से ही पुराने लोगों ने गणना की है। जिसका जन साधारण बिना पूर्ण ज्ञान से, त्याग नहीं कर सकता। परन्तु सबसे उत्तम और प्राप्त करने योग्य प्रयोजन तो मनुष्य का मोक्ष को पाना ही है, जिसे सब से उत्तम पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि संसार के सुखों को भोगते-भोगते जो दुःख उत्पन्न हो जाते हैं उनसे मुक्ति या मोक्ष सभी चाहेंगे।

(15) संस्कार (Impressions)

(1)

मनुष्य संसार में जितने भी कर्म करता है, वे सब वहीं पर करने के साथ ही समाप्त नहीं हो जाते हैं अर्थात् प्रत्येक किया गया कर्म अपनी एक छाप

(संस्कार) अन्दर छोड़ जाता है। साथ ही वे किये गये सब कर्म आप में एक प्रकृति की शक्ति खड़ी करते हैं, जो आपको संसार से बांधे रखती है। इसी के कारण बाहर का भटकना मनुष्य को अन्दर ही अन्दर आत्मा का सुख पाने में असमर्थ बना देता है और उसको अपना-आपा (आत्मा) कुछ खोया-खोया सा अनुभव में आता है।

(2)

संस्कार नाम उन छापों का है जो अन्तःकरण या मन में गूढ़ रूप से (छुपे) पड़े रहते हैं। जैसे कि किसी वस्तु को देखा या अनुभव किया या किसी काम को किया , वह काम तो तुरंत समाप्त हो गया, परन्तु उसकी छाप मन में गूढ़ रूप (सूक्ष्म) से बसी रहती है, यही संस्कार हैं, जो सब अनन्त जन्म बीतने पर भी नष्ट नहीं होते। यही संस्कार बार-बार वस्तुओं को अपने मन में स्मृति द्वारा उपस्थित करके मनुष्य में काम, क्रोध इत्यादि विकारों को पैदा करते रहते हैं। संस्कार ही अविद्या द्वारा उद्‌बुद्ध (जागने पर) होकर मनुष्य को संसार की ओर ले जाते हैं। यदि यह अविद्या जड़मूल से नष्ट हो जाए, चेतन ज्ञान रूप से सदा भासमान रहे, तो संस्कारों को उद्‌बुद्ध होने का मौका नहीं मिलेगा। उस आत्मा में सदा दुःख का अभाव ही रहेगा। उससे सामान्य सुख सदैव प्रकट रहेगा, तो संस्कार जागेंगे ही क्यों ? संस्कार तो तब जागते हैं, जब आत्मा पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाए।

(3)

देखो ! अकेले में यह है किसकी सोचता ?
जैसा है सम्मुख क्यों इसे वह न रोचता।
ढका इसका सुख, संस्कारों से क्या मिले ?
हुआ वह अतीत क्यों न सत की राह चले।।

(4)

जिस किसी वस्तु का अनुभव मनुष्य करता है, उसका संस्कार (छाप) मन में बैठ जाता है, और उसी संस्कार से पुनः उस वस्तु व उस व्यक्ति

की स्मृति (याद) बाद में बहुत समय तक होती रहती है। इसमें अच्छी व बुरी दोनों ही स्मृतियाँ बनी होती हैं, जिनमें सुख को पुनः प्राप्त करने की कामना तथा दुःख से बचते रहने का भाव बना रहता है। धर्म मार्ग में दोनों को ही मिथ्या व अनुचित माना है। उत्तम स्मृति के लिए पूर्व में हुए संतों व ऋषियों आदि के जीवन चरित्रों को पढ़कर उनके उत्तम गुणों व कर्मों की स्मृति व उनकी जीवनचर्या व उद्योग, धर्म के मार्ग पर उत्तम कमाई आदि का स्मरण करके अपने-आप को सन्मार्ग पर प्रेरित करे। ऐसे में प्रभु कृपा बनी रहेगी।

(16) वासना (Established past deeds)

(1)

वासना भी संस्कार की भाँति मन में बसा रहने वाला तत्व है। जैसे किसी पात्र में बहुत समय से रखे घृत (घी) को निकाल लिया जाए, तो भी उस घी की चिकनाई (स्निग्घता) या गन्ध उस पात्र में बसी ही रहती है, तथा लोग कहते हैं कि "इसमें घी की बास (गन्ध) आ रही है"। इसी प्रकार मन में बसी हुई वासनाएं, सब ज्ञान और (पूर्व) कर्मों की कुछ बसी हुई शेष अवस्था का नाम वासना है। वही मनुष्य को पुनःपुनः कर्मों में प्रेरित करती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण पराधीन है। परन्तु मनुष्य के अन्दर बुद्धि विज्ञान होने के कारण से हित और अहित का बोध जगाया जा सकने के कारण से इन वासनाओं द्वारा जो प्रेरणाएं सब प्रकार से कर्म करने की होती हैं, उनको टालकर अच्छे शुभ-कर्म करने की शक्ति, त्याग और तप द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

(17) विवेक (Right knowledge)

(1)

सही मार्ग पर रहा, तभी विवेक है सुहाय,
विपरीत जो गया तो कुछ होता ही होता जाये।
भव की यह बहती धार, फिर विभव को सुख बताये;
विनाश देख फिर वही भव धार में बहाये।।

(2)

विवेक का अर्थ है कि दो वस्तुओं को जो आपस में मिली हुई हैं, उनको न्यारा-न्यारा करके (छानबीन द्वारा) सही रूप में पहचानना कि "प्रकृति किधर ले जा रही है" और "उसका बंधन कहाँ तक ले जाएगा" ? और 'फिर आखिर इससे छूटने का सत्य मार्ग कौन-सा है?' यह विवेक का मुख्य कार्य है। अब यह मनुष्य ही कर सकता है, जिसमें विवेक या सत्य ज्ञान पूर्ण रूप से बैठा हुआ है, यही वह सर्वज्ञ भगवान है। उसका विश्वास अवश्य रखना, नहीं तो व्यक्ति अकेला पड़ जाता है।

(3)

मन की चाल-कुचाल को समझते हुए उसके परिणाम को सोचने लगना ही विवेक है, इसी विवेक को अन्दर जगाना है। पुरुषार्थ इसके जगाने में है, क्योंकि केवल मनुष्य को ही अधिकार है कि वह सोच समझकर भले-बुरे को पहचान सकता है, चाहे वह भला-बुरा अभी पहचानने में न भी आए, परन्तु मनुष्य सोचने के लिए उस विषय के अन्दर मन को लगा सकता है, यही मनोयोग है। जो साधक भले-बुरे की पहचान करने के लिए अपने मन के साथ जुड़ता है, ध्यान का अभ्यास करता है और भगवान में श्रद्धा रखता है, वही सही मायने में मनुष्य है। इसके लिए आत्म-संयम करना पड़ता है।

(4)

जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही समझना, यही सत्य का ज्ञान है जो अविद्या को जड़ से नष्ट कर देता है। यदि विवेक प्रकट हो गया अर्थात् सत्य का ज्ञान हो गया, तो मिथ्या ज्ञान-रूप अविद्या टल गई। अब साधक का मन विषय सुखों की ओर नहीं जायेगा, न उनको जानने व पाने के लिये वह बल, चिन्तन आदि का प्रयोग करेगा।

(5)

पराक्रम कर जन बन्धन परखे, जिनको दु:ख बुलाये,
इनके सम्यक् ज्ञान हेतु, ध्यान में मन को रमाये।
ज्यों-ज्यों परखे, त्यों-त्यों छूटे, प्रीत प्रसन्न हो मन;

कभी भी जो न बिछुड़े, पावे ऐसे सुख का धन।।

(6)

संसार चलाना तो उसी एक के हाथ में ही है जो सर्वत्र, अपनी चमक देकर, क्या का क्या प्रकट हो करके, अपनी माया शक्ति से इन सब देहों की पुतलियों को चला रहा है। अब यदि केवल समझ रूप (विवेक) अर्थात् ज्ञान का ही सहारा आप रखेंगे, जिसके कारण से सारी हरकतें हो रही हैं, तो आप उसकी माया-रूप शक्ति से भी मुक्त हो सकेंगे।

(7)

विवेक का अर्थ है सही ज्ञान, अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही समझना और पहचानना। जैसे कि प्रकृति के सुख सब अनन्त दुःख में ही समाप्त होते हैं तथा सदा बने भी नहीं रहते। यह सत्य भी यदि मन में प्रकट हो गया, तो यह भी विवेक है। प्रकृति के रास्ते पर चलते हुए को जो सुख मिलते हैं उनकी न समाप्त होने वाली प्यास रूपी तृष्णा की आग इतनी इन विषय सुखों से प्रचन्ड हो जाती है कि जिसको कभी भी शान्त करने के लिए विषयों की पूर्ति से कभी भी शान्त नहीं किया जा सकता। यदि ध्यान द्वारा मन में प्रकट या स्पष्ट रूप से अनुभव (महसूस) हो जाये, तो इसे प्रकट (व्यक्त) विवेक कहा जाता है, इसी से मन में वैराग्य, तृष्णाओं का शमन रूप तप पैदा होगा जो मोक्ष मार्ग की ओर जाने में सहायक है। बहिर्मुख मन विषयों से हटकर जब अन्तर्मुख हो जाता है, तो मनुष्य को सब पापों से, दुःखों से और बन्धन विकारों के अनर्थ से सुरक्षित रखकर परमपद की ओर ले जाता है।

(18) वैराग्य (Dispassion)

(1)

इस राग बंधन को वैराग्य द्वारा समाप्त किया जा सकता है। यह वैराग्य, विवेक से उत्पन्न होता है। वैराग्य का तात्पर्य यह है कि राग से टलने का भाव। राग से विपरीत मनोभाव जगाकर, इस राग की तुच्छता प्रकट करके इस राग की दिशा से मन को टालते जाना है। विवेक नाम उस ज्ञान का है जो कि वस्तु के वास्तविक स्वरूप को विचार द्वारा प्रकट करे। विवेक, स्थिर आसन पर बैठकर ध्यान में ही चिन्तन व विचार द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

(2)

जो कुछ भी संसार में सुख देखने में आता है, इन्द्रियों द्वारा प्राणियों से व पदार्थों से संग करने पर मिलता है; उस सब सुख की ओर से मुँह फेर लेना और मन का मुड़ जाना और उन सुखों की तृष्णा से रिक्त होना ही वैराग्य का स्वरूप है। वैराग्य मोक्ष का साधन है; जो विवेक के बिना उत्पन्न नहीं होता। जब साधक समझने लगता है कि यह सब सांसारिक सुख अंत में रोग, शोक, वैर, हिंसा, झूठ आदि की ओर अग्रसर करने वाले हैं, तो इन सुखों से उसका चिपकाव कम होने लगता है। इसका अर्थ है कि राग से विपरीत वैराग्य उत्पन्न होना आरम्भ हो गया है। इसी को बढ़ाते हुए, वैराग्य मन से, मैत्री बल का सहारा लेते हुए व्यापक को जानना आवश्यक है, क्योंकि व्यापक का नाम ही ब्रह्म है।

(19) तप (Austerity practice) व तितिक्षा (Endurance), त्याग (Renunciation)

(1)

हर्ष को कुछ अल्प रखके, करे युक्त संग,
उदास सही होगा, मन थोड़ा होगा भंग।
थोड़ा सा यह दुःख भव भेषज बन जाय,
ध्यान, ज्ञान द्वारा बड़े दुःख से बचाय।।

(2)

मान्य सत्य है दुःख ही जग में; सुख की झूठी आश,
इसको भूल भूला के सुखिया होगा कबहुँ निराश।
जो हताश न होवे मन तब दुःख में जीवन पाये;
देह, बुद्धि मन वश में राखे करण न खोटे धायें।।

(3)

समय पाय बल पावें ले दुःख में जीना सीख;
दुःख हेतु सुख तृष्णा त्याग कर सत्य पड़ेगा दीख।
जो है जैसा वैसा ही दीखे, यही है सत्य प्रमाण;
स्मृति, ध्यान, वीर्य, बल राखे, संग श्रद्धा का प्राण।।

(4)

तंगी (दुःख) सहन करने से ही मन वीर बनता है। उपनिषदों में भी कहा है कि बलहीन को आत्मा नहीं मिलती। साथ ही यह भी सोचते जाना है कि "मनचाही वस्तु नहीं मिली, कोई बात नहीं" ऐसा कहते-कहते मन को शान्त करना अर्थात् "तितिक्षा"। यदि ऐसा करते हुए एकान्त में साधक ने समय बिताना सीख लिया, तो समझो! उसे स्वर्ग का जीवन मिल गया।

(5)

बाह्य संसार से मुक्ति पाने का सरल उपाय है 'अन्दर जागना', जो दुःख को सहन करने के अभ्यास से ही होता है। यह अन्दर का ज्ञान तब ही दिख पाता है जब अन्दर की आँख खुले अर्थात् अविद्या, अज्ञान का पर्दा हटे। इस पर्दे को हटाने के लिए पहले दुःख का फाटक लाँघना पड़ता है।

(6)

आसन टिके पर ध्यान डटे और सत्य के ज्ञान को पाये,
चेतन जागे पुनः ज्ञान को पाकर, बहु कुछ मन को सिखाये।
जो त्यागना चाहे न कोई, सो भी त्यागे, दे करन की शक्ति विशाल;
थोड़ा कुछ त्यागे, थोड़ा दुःख झेले, दे बहु बड़ी उलझन भी टाल।।

(7)

जब भी किसी कारण से थोड़ा दुःख आ पड़ने पर धर्म के रास्ते से मनुष्य को अरुचि हो जाए, तो ऐसी स्थिति में उस थोड़े दुःख के भड़कावे (प्रभाव) में आकर वह अपने धर्म के रास्ते से हटे नहीं बल्कि उस दुःख की तितिक्षा करे। तितिक्षा का अर्थ यही है कि दुःख को चिन्ता-विलाप किए बिना, हाय-तौबा मचाए बिना तथा उसी को दूर करने के लिए अनुचित उपायों को सोचे बिना, बड़े आराम से मन को शान्त करके सहन कर लेना। इस प्रकार दुःख सहन करते जाने से उसकी आत्मा में बल आता जायेगा तथा एक दिन वह बड़े दुःख को भी सहन करने योग्य हो जाएगा। अन्त में यह शक्ति उसे संसार के बन्धनों से मुक्त करके भगवान् से मिला देगी।

(8)

जिसने मन के वेगों को मन में ही दिया मिटा,
बुद्धि सुलझी मन के शमन पै, उसी का कष्ट कटा।

(9)

अन्दर ही सभी के बिराजे वह तत्त्व,
दु:ख को दिखाकर प्रकट करे बाहर सत्व।

(10)

अन्दर लगी अग्नि को बाहर जो बुझाये,
दिनों-दिन वही अग्नि बढ़ती ही जाये।
इस अग्नि को पचाना सीखे, तप इसी का नाम;
मन बुद्धि आदि सही राखे, बरसे शम जल वाम।।

(11)

जो मनुष्य अपनी 'मैं' को भी त्याग देता है, वही त्यागी है, यही सबसे बड़ा दान है। 'तप' शब्द का अर्थ है कि किसी भी दु:ख को बुद्धिपूर्वक सहन करना, जिसका परिणाम अपना अन्त का भला है। सादे में अपने मन को समझा करके, थोड़ा दु:ख स्वीकार कर लेना, उसको सहन कर लेना, उसमें मन का धैर्य नहीं खोना, यह 'तप' कहा जाता है। और जिस थोड़े से सुख को लेने से अन्त में बड़ा दु:ख होता है, उस सुख को भी बुद्धिपूर्वक सत्य का ज्ञान उपजाकर त्याग देना।

(12)

उद्योगी जन जीते दोनों छोर,
ध्यान और ज्ञान में विभोर।
छन्द हो तो जीते पुन: मौत;
मन चाहा जीवे बोले ऋषि श्रौत ।।

(13)

कष्ट बिना न होवे उद्योग,
कष्ट में न सहज छन्द योग।
मुनिज मन देख दुःख सब ओर;
दीर्घ जीवन के हेतु न करे जोर ।।

(14)

छोटे सुखों का तुझे नहीं है ध्यान,
मोटे सुख का ही करे सन्मान।
छोटे सुख जो दृष्टि में बस जायें,
तो बहते दुःखों में भी मन सुख पाये।।

(15)

प्रकृति की संसार को चलाने वाली शक्तियाँ अपना सुख-दुःख दिखाकर जिधर मनुष्य को ले जाना (ढकेलना) चाहती हैं, उस प्रकृति के रास्ते को विचार से त्याग देना अर्थात् उस प्रकृति के सुख को ग्रहण न करना, इसी का नाम त्याग है। इस त्याग से विवेक, विचार का बल बढ़ता है तथा सांसारिक सुख और उनकी सामग्री की तुच्छता भी प्रकट होती है। शनै-शनै राग, द्वेष, संशयादि से लेकर उन्हीं सांसारिक सुखों के मोह, मान आदि को भी त्यागकर पूर्ण निर्वाण को प्राप्त करेगा। यह सब त्याग का फल है।

(16)

जो मनुष्य अपनी 'मैं' को भी त्याग देता है, वही त्यागी है, यही सबसे बड़ा दान है। 'तप' शब्द का अर्थ है कि किसी भी दुःख को बुद्धिपूर्वक सहन करना, जिसका परिणाम अपना अन्त का भला है। सादे में अपने मन को समझा करके, थोड़ा दुःख स्वीकार कर लेना, उसको सहन कर लेना, उसमें मन का धैर्य नहीं खोना, यह 'तप' कहा जाता है। और जिस थोड़े से सुख को लेने से

अन्त में बड़ा दुःख होता है, उस सुख को भी बुद्धिपूर्वक सत्य का ज्ञान उपजाकर त्याग देना।

(17)

अन्धकार में जगा मन आपको सारे संसार का ज्ञान देगा। मन की समझ से ध्यान व चिन्तन करने से जो मुक्ति मिलेगी, वह ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति है। नींद और संसार की लपक से रहित यह ज्ञान "भगवान कृष्ण के अवतार" समान ही होगा जो इस शरीर (देह) में सब काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह अहंकार, ईर्ष्या रूपी राक्षसों को समाप्त कर देगा, क्योंकि आपने दुःख सहन करके तप करना सीख लिया है। इसी प्रकार ज्ञान को बढ़ाते जाना है। फिर जब ज्ञान मन में है तो मनुष्य न तो अकेला है और न ही उसे किसी पुस्तक या संगत की जरूरत रहती है।

(18)

प्रत्येक मनुष्य को यह मीमांसा अपनी बुद्धि में उतारनी पड़ती है। भगवान् की कृपा से यदि यह व्यवसायात्मिक बुद्धि अथवा भगवत रूप बुद्धि (निष्पक्ष बुद्धि) आपके अन्दर उतर आई और आप प्रकृति के रास्ते से टल गये, तो यह एक बड़ी उपलब्धि होगी। इसी के अनुरूप अपने जीवन को भी ढालते जाना है। सब बुराइयों को छोड़ना, सब अच्छाइयों को अपनाना साथ ही अपने मन की भी सफाई करने के लिए यत्न करते जाना है। यह धर्म का पहला नियम है।

(19)

हर साधक को तप से होने वाली तंगी (परेशानी) सहनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में आरम्भ में ही ध्यान के जल्दी लगने के बारे में सोचना व उससे मिलने वाले सुख की कामना करना उचित नहीं है। इसके लिये थोड़ी कमाई (उद्योग) करनी पड़ती है। कारण मन साधक को दो तृष्णाओं (भव और विभव) में ही लपेट रखता है। 'भव' का अर्थ है कि संसार में ही किन्हीं दूसरों

के संग से होना और 'विभव' का अर्थ है कि सब संसार का संग टले, तो निद्रा आदि में खो जाना। इन दोनो तृष्णाओं को हिम्मत और उद्योग से टालते हुए ध्यान में जमे रहकर आगे बढ़ते जाना है।

(20)

इस प्रकृति का प्रायः सभी जीवों में जीवन को स्वाभाविक रीति से काम, क्रोध आदि विकारों के सहित चलाने वाली शक्ति का विरोध करने पर या इसके विपरीत दिशा या मोक्ष के मार्ग पर चलने में जो दुःख हो, उसे बुद्धिपूर्वक सह लेना और अपना विवेक व सद्विचार न खोने देना, इसी का नाम तप है। अर्थात् तपने का नाम ही तप है। प्रकृति के विपरीत चलने में जो मन में ताप या दुःख रूप है, उसे सहन करते जाना, इसी को तप यानि तपना कहा गया है। इसलिए इस प्रकृति के विरोध में होने वाले दुःख को जो धैर्य से सहन करके अपने-आप को, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को समहित रख सके अर्थात् अपने बस में रख सके, वही यथार्थ में तपस्वी है अर्थात् तप करने वाला है।

(21)

तितिक्षा का अर्थ है त्याग या हान की इच्छा; जो कुछ भी दुःख की अवस्था में मन विपरीत होकर करना चाहता है, इस सबको त्यागने की इच्छा रखना अर्थात् उसमें विलाप, क्रोध, चिढ़, चिन्ता और अनुचित आचरण से दुःख को टालने का यत्न आदि सब कुछ न करने की इच्छा बनाए रखना, इसी को तितिक्षा कहा जाता है। इसका यहाँ तात्पर्य यह है कि मोक्ष मार्ग पर चलने वालों के लिए बहुत से सांसारिक सुखों का त्याग करने पर जो तप या दुःख या उसका खेद, जो सहन करना होगा, उसमें कोई भी मन में चिन्ता या विलाप का भाव न आने देना अर्थात् मन से टालते जाना और मन को स्वस्थ रखना है। जिन त्याग के दुःखों को सहन किया जा रहा है, उनको भी किसी दूसरी प्रकार से टालने का यत्न भी नहीं करना।

(20) क्षमा (Forgiveness) व क्षान्ति (Established forgiveness) (खण्ड 6 अ भी देखें।)

(1)

किसी से दु:ख मिलने पर वह व्यक्ति आपकी निगाह में अपराधी जैसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मन के भड़काव को रोककर उसके अपराध को बहुत महत्व न देना, केवल अपने-आप में शान्त रहना और उसके लिए द्वेष दृष्टि या वैर भाव भी न बनने देना। यत्न से यदि मन शान्त हो गया और दूसरों के लिए विपरीत करने का भाव भी न रहा, तो यही क्षमा का स्वरूप है। इसके बिना क्रोध की शान्ति नहीं होती तथा द्वेष भी नहीं मिटता।

(2)

इसी क्षमा की ही ऊँची अवस्था का नाम क्षान्ति है, जिसमें क्षमा का अभ्यास करते-करते मनुष्य का मन इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसे दूसरे के अपराध के दु:ख को सहन करने के लिए विचारने की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वभाव से ही क्षमा को अपने में बसाए रखता है। यह शान्ति का स्वरूप है, जिसके लिए तप और तितिक्षा की परम आवश्यकता है। दु:ख को सहना ही तप है, और ऐसे में मन को भी शान्त रखना, कुछ बुरा करने के लिए उतारू न होने देना ही तितिक्षा है। इससे आगे फिर क्षान्ति का ही स्थान है, जहाँ पहुँचने पर वह संसार से उदासीन हो जाता है, तथा बाहर संसार में अपने दु:खों के निराकरण के उपाय न खोजकर, आत्मा मे उन उपायों को खोजकर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

(21) सन्तोष (Contentment)

(1)

जब संसार को चलाने वाली शक्ति अधिक सुख का लोभ दिखाकर मनुष्य को नियमों को लाँघकर भी उस प्रकृति सुख को प्राप्त करने की ओर प्रेरित करे, तो यह प्रेरणा लोभ या लालच कही जाती है। इस लोभ के आकर्षण से मन को

मोड़ना और नियमित रूप से बाहरी या सांसारिक पदार्थों व प्राणियों का संग उतना ही करना, जितना जरूरत का हो और शेष सम्पूर्ण लोभ को त्यागकर उस थोड़े में ही अपने मन को शान्त कर लेना ही 'सन्तोष' कहलाता है। इसके बिना मनुष्य धर्म के मार्ग में नहीं चल सकता, व आसन, ध्यान आदि में भी उसका मन भी नहीं लग पायेगा।

(2)

देह रक्षा से अधिक तो है, सुख का ही लोभ;
धैर्य से रख संतोष, तप कर, सहले मन का क्षोभ।।

(3)

सुख की वस्तु न मिलने पै, होवे मन में ताप,
अन्य दु:ख भी आ पड़ने पर, उसका भी संताप।
इन दोनों को धीर हो सहले, सुध बिगड़न न पाय;
बहि: बर्ताव भी समुचित राखे, तप भलो यही कहलाय।।

(4)

दूजे के संग कहीं टक्कर मत हो, शमन करन को सीख,
मैत्री आदि संग मेल जो राखे, इक ईश पड़ेगा दीख।
स्वपर में, बस, वह इक राजे विघ्न रहन न पाय;
आत्मा औ परमात्मा सब में, सुख समाधि संग भाय।।

(22) नाम स्मरण व भक्ति (Reciting God's name, Devotion)

(1)

तुमने नहीं देखा, नाम सुना भगवान,
फिर कैसे करोगे निज मन से उसका ध्यान?
सब शुभ गुणों की उसकी मूरत बनाओ;
नामों के सतत स्मरण से निज मन में बैठाओ।।

(2)

जीव के अवगुणों के विपरीत, गुण का धाम,
दुर्बलता प्रतीप (विपरीत) उसके, सुमिरे बलों के नाम।
नाम द्वारा अर्थ चिन्तन, सुन्दर मन का योग;
अपने में जो धारण करले, कट जाये उसका रोग।।

(3)

नाम स्मरण करते-करते और उसी की लीला को देखते-देखते "तू-तू", "मैं-मैं" से भी मुक्ति मिलेगी। तो न 'तू' कर्त्ता और न 'मैं' कर्त्ता और न कोई और कर्त्ता, करने-कराने वाला क्षण-क्षण बहुविध प्रकट होता हुआ या व्यक्त होता हुआ अपनी माया की क्रिया-शक्ति द्वारा जगत् को चलाता हुआ वह ही दृष्टि में (नज़र में) आएगा और उसके पकड़ में आने पर जीव अपने को, व दूसरे को करने-कराने वाला नहीं समझेगा। पर यह सारा ज्ञान एकान्त में ध्यान अवस्था की एकाग्रता में जब साधक देखे और इस ज्ञान को महसूस (अनुभव) करता हुआ संसार को भूल जाए, तो उसे ब्रह्मानंद की प्राप्ति होगी तथा सब दु:खों से छुटकारा हो जायेगा।

(4)

प्रीति नाम भक्ति का ही है। नारद जी के भक्ति-सूत्रों में भक्ति का लक्षण यही लिखा है। *"सा तु अस्मिन परम प्रेमरूपा"* अर्थात् भगवान् के चिन्तन में इतना प्रेम हो जाए कि बाहर संसार की कोई खबर ही न रहे, बस! यही भक्ति है। इसी प्रकार कीर्तन, नाम जप, भगवान् के गुणों का स्मरण करते हुए, चिन्तन करते-करते यदि मनुष्य की प्रीति व लगन इतनी तीव्र हो जाये अर्थात् उसमें इतना डूब जाए कि उसको दुनिया की सुध ही न रहे तथा उस चिन्तन से हटने की इच्छा भी न हो, तो इसे बहुत उत्तम ध्यान कहा जाता है। पर इस प्रकार के ध्यान के अभ्यास में साधक को संसार नहीं छोड़ना है। जरूरत का बोलना व बताना और परिवार तथा समाज के प्रति कर्तव्य पालन और सादा जीवन बिताते हुए वह सभी कार्य होते ही रहेंगे।

(5)

आम आदमी को दूसरों के दोष देखने की ही आदत पड़ी हुई है, चाहे उसके खुद के अन्दर बड़े से बड़ा दोष (विकार) क्यों न हो? अपने दोष कोई भी नहीं देखना चाहता। पर भक्त का व्यवहार ठीक इसके विपरीत होता है, वह अपने विकारों (दोषों) को तिल जितना भी सहन नहीं करता और दूसरों के पहाड़ जितने बड़े दोष भी वह प्रकृति (आदतों की शक्ति) से ही करवाए जाते हुए समझकर दूसरों के लिए क्षमा रखता है और दयावान रहता है। यही भक्त की रीति अपनाकर यदि मनुष्य अपना सुधार करे व थोड़ा अपने-आप को पहचानना शुरू कर दे, तो पहला सच्चा आत्म-ज्ञान तो यही है। इस हेतु भगवान का सहारा लेते हुए आगे धर्म के मार्ग पर चलते जाना है।

(6)

भगवान् के रास्ते पर चलने के लिए मनुष्य को कोई भी शब्द या नाम उसको प्यारा लगता है या उसका कोई इष्ट है उसका ध्यान करके अपनी आत्मा में मनन जगाये। मनन करता हुआ यदि उसने एकान्त में समय बिताना सीख लिया, तो समझना चाहिए कि उसके अन्दर की आँख खुल गई। यदि धीरे-धीरे उसको दुःख सहन करना आ गया, तो दुःख सहन करते-करते वह भी टल जायेगा। दुःख टलने के बाद जो उसको सुख मिलेगा वह उसका सच्चा आत्मा का सुख होगा। इस सुख के मिलने के बाद उसको मालूम होगा कि जो पाना था वह मैंने पा लिया आगे और कुछ पाने का नहीं रहा।

(7)

भगवान् का कोई भी नाम जो आपको प्यारा लगता है पकड़ लो, उसे जपते रहो, नाम स्मरण करते रहो, चाहे ध्यान कुछ भी नहीं लगे। जहाँ-जहाँ भी मन जाये, इस प्रकार का मन में भाव बनाओ कि हे मेरे प्रभु! वहाँ-वहाँ भी तू ही है। ऐसा भाव बनाकर फिर नाम का स्मरण करते जाओ। यह श्रद्धा की भक्ति होगी और इससे भी परिवार के साथ रहते हुए भी आपको अन्त में स्वर्गलोक मिल जायेगा। यदि हम अपनी आत्मा को व्यापक परमात्मा के साथ एक रूप

में पहचान लिया, तो यह मुक्ति को प्राप्त होगा।

(8)

उत्तम गति वाला मन वही है जो कि ऐसी दु:ख की अवस्था में भी थोड़ा भगवान् का नाम स्मरण करने लग जाए कि 'हे मेरे प्रभु! मैं आपको जानता हूँ या नहीं जानता, तो भी कोई बात नहीं। इतना अवश्य है कि प्रभु! तू ही सच्चिदानंद रूप में सबके अन्दर चेतन व ज्ञान रूप से बैठा हुआ है और लीला कर रहा है।' अपने मन को बोल-बोल कर चेतन करते रहना है। उत्तम गति वाले मन की यही अवस्था है कि दूसरों के सुख में सुखी होना, दूसरों के दु:ख में थोड़ा दयाभाव रखना, दूसरे के छोटे से भी गुण को तो देखना व उसकी प्रशंसा (वाह-वाह) करना, परन्तु दूसरों के दोषों व अवगुणों की तरफ बिल्कुल ध्यान न देना अर्थात् उनकी उपेक्षा करना। इसके लिए सजीव व सतत् प्रयत्नों (उद्योग) की आवश्यकता होगी। यदि इस प्रकार सद्विचारों की शक्ति से सब मिथ्या व विरोधमय प्रकृति के स्वभाव व उनके प्रभाव को समझते हुए शांत कर लिया, तो समझो! द्वेष से मुक्त होकर आप भगवान् के धाम में प्रविष्ट हो गए।

(23) दु:ख (Suffering)

(1)

रहे सब से अच्छा केवल दु:खों का ही ध्यान,
दु:ख की पहचान, व्यापक दु:ख का भी ज्ञान।
इससे कम से कम बना रहेगा तो इंसान;
सुखों के पाछे लगा तो हो सके भी हैवान।।

(2)

दु:ख के ध्यान से हो दु:ख कारण का भी ज्ञान,
ता से प्रेरित मन करे, हान का अभियान।
दु:ख की प्रतीति संग निखिल विकार;
बुद्धिपूर्वक टारे, सर्व दु:ख परिहार।।

(3)

दु:ख प्राय: तीन प्रकार का होता है। (1) आधिभौतिक: जैसे बीमारी, शरीर में चोट, (2) आधिदैविक : जो देवों से मिलते हैं जैसे ठंडी, गर्मी, बाढ़, भूकम्प आदि तथा (3) आध्यात्मिक : दूसरे के दुर्वचन से मन का दु:खी होना, मन के अनुकूल खाना, पीना तथा रहने का स्थान नहीं मिलना। ये तीनों दु:ख संसार में रहने वाले सभी प्राणी भोगते हैं, तथा इनके प्रभाव में बुद्धि खोकर मिथ्या कर्म करते रहते हैं। इन्हें साधक को तितिक्षा द्वारा टालते जाना है। 'तितिक्षा' का सादा अर्थ है 'त्याग की इच्छा', अर्थात् अपने मन को इतना तीक्ष्ण (बलशाली) बनाना है कि वह दु:ख से प्रभावित न हो तथा उसकी बुद्धि विचलित भी न हो। इसमें दु:ख को सहन करने की आदत डालनी है और उसके लिए बुद्धि को भी चेतन रखना है।

(4)

दु:ख ही सबसे पहला एक ऐसा कारण है जो बुद्धि को टिका नहीं रहने देता। बाहर संसार में दु:ख देने वाले ज्यादा हैं और सुख देने वाले कम क्योंकि हर प्राणी अपना सुख चाहता है। इस लिये एक-दूसरे के सुख का आपस में टकराव है। इसीसे अनेक प्रकार के बैरी आदि की दृष्टियाँ मन बनाता है। ऐसे में धर्म मार्ग पर चलते हुए यदि आपने गर्मी-सर्दी का व दूसरे के मान-अपमान आदि का दु:ख एक बार हज़्म कर लिया, तो ऐसे में हज़्म करने की शक्ति बढ़ती जायेगी और स्मृति भी स्थिर होती जायेगी। जैसे-जैसे स्मृति स्थिर होती जायेगी वैसे-वैसे उसके साथ-साथ कुछ बल भी बन जाएगा। इसी का नाम है वीर्य या हिम्मत, तो यह सारा धर्म का रास्ता है वह मनुष्य के अन्दर पहचानने का है।

(24) सुख (Pleasure), प्रसन्नता (Happiness)

(1)

संसार में सारा जीवन सुख के सहारे बँधा हुआ है। सुख का न मिलना ही प्रतिकूल होने के कारण से दु:ख-रूप से अनुभव में आता है। इस दु:ख से

बचने के लिए मनुष्य अनेक मिथ्या कर्म बिना उनका परिणाम सोचे करता है। तो ऐसे में पहले थोड़ी श्रद्धा रखकर जीवन यापन करना सीखें। श्रद्धा से ही चोरी, झूठ, दुराचार आदि से बचें। साथ ही शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर- प्राणिधान इन पाँचों नियमों को धारण करते जाना है। स्वाध्याय से यहाँ अर्थ है मन की जाँच-पड़ताल कि "मन किधर जा रहा था और उसका क्या परिणाम होगा ?"

(2)

सुख का कभी विज्ञान हुआ, क्षण में चल बसा,
पाछे भी था विज्ञान, पर न उसमें मन रसा।
सापेक्ष ज्ञान धार ही सुख दुःख की बहती जाये;
है तो सकल विज्ञान ही, पर दृष्टि में भी आये।।

(3)

जब तक नज़र में सुख बसा, असल न दीखे रूप,
जो धैर्य रहे दुःख में, पड़े तृष्णा के न कूप।
पुनः ज्ञान और अभ्यास से, हो सुख नज़र से दूर;
तो रहा न दुःख का नाम कहीं, विज्ञान ही भरपूर।।

(4)

प्रसन्नता के बिना जीवन दूभर-सा मालूम होता है। मनुष्य में तीन कारक हैं; यदि वह तीनों बने रहें, तो जीने की इच्छा बनी रहती है: (1) हमारे मन में खुशी रहनी चाहिये (2) जीवन की प्रीति बनी रहे और (3) बेपरवाही (उपेक्षा) भी हो। विपरीत वस्तुओं और परिस्थितियों की हम उपेक्षा भी कर सकें। उपेक्षा नाम यहाँ बेखबरी का है अर्थात् जो प्राणी, पदार्थ या स्थितियां आपके मन को बुरी तरह से उलझाये रखती हैं उनकी तरफ से बेखबर या बेपरवाह से रहें।

(25) विभिन्न योग (Different Yogas)

(1)

प्रकृति के बंधनों को ढीला करने या छुटकारा पाने के लिए दो ही रास्ते हैं, एक ध्यान योग और दूसरा क्रिया योग। थोड़ा-सा सत्य के ज्ञान को अन्दर जगाना पड़ता है, जिसके लिये ध्यान की आवश्यकता है और थोड़ा-सा क्रिया-योग भी चाहिये, जिससे अपने अन्दर क्रिया उत्पन्न करके मन के जोशों को भी समाप्त किया जा सके। क्रिया-योग से यहाँ तात्पर्य है प्राण-शक्ति को बढ़ावा (बल) देकर, उसी के सहारे से मन के विकारों को दूर करना। जब तक प्रकृति के बन्धन मन में बैठे रहते हैं, तब तक यह किसी को भी शांति नहीं लेने देते। जिस समय प्रकृति के यह बंधन मन से टलनें लगेंगे, तभी शान्ति मिलने लगेगी।

(2)

क्रिया-योग हेतु आप अकेले में शान्त होकर सीधे बैठो, समझ के साथ श्वास लेते रहो और समझ के साथ छोड़ते रहो तथा घबराओ मत। पाँच, सात, दस मिनट, इस प्रकार डटे रहो। पूरा ध्यान इस प्रक्रिया में लगा देने से वही सब जगह से मन को भुला करके और राग द्वेष, काम, क्रोध, इच्छा, तृष्णा आदि से टल करके सिर्फ श्वास लेने व श्वास छोड़ने की क्रिया में ही लगा रहेगा। ऐसे में काम (इच्छा) के सुख के विछोह में उत्पन्न दुःखों को अपनी आत्मा में हज़म करते जाना है, यही क्रिया-योग का सहारा है। साथ ही समझ से श्वास लेना और समझते हुए छोड़ना इसकी आदत भी डालनी है, जो ध्यान योग में भी सहायक है।

(3)

जब ध्यान, स्मृति व समझ के साथ श्वास लेना व छोड़ना आ गया, तो क्रिया योग जमने लगता है और प्रकृति की शक्ति भी क्षीण (दुर्बल) होती जाती है, तथा ध्यान भी जमने लगता है, अर्थात् अन्दर की आँख खुलनी शुरू हो जाएगी। मन पहचानने में आने पर, अन्दर के काम क्रोध आदि विकार भी समझ में आने लग जाएंगे और उनको टालने का बल भी प्राप्त होगा। जिस दिन

ज्ञान चक्षु खुल गया , तो समझो! प्रज्ञा (विवेक) जाग गई। दुःख सहन करते-करते और ज्ञान को जगाते रहने से तथा ऐसे में नींद पर भी काबू पाते जाने से आपको काम (इच्छा) लोक से मुक्ति मिल जाऐगी। उसी क्षण अन्दर से आपको वह सुख और शान्ति मिलेगी जो भगवद्धाम की है।

(4)

शान्ति हेतु जैसा कुछ समझे, भावना ताका नाम,
राग द्वेष इस बिन न छीजें, मिले न पावन धाम।
बन्ध, विकार जो जग को चलायें, उनका साक्षात् ज्ञान,
ध्यान योग से पा, विमुक्त हो, ज्ञान का योगी सुजान।।

(5)

साधक को ज्ञान योग से मन को समझाना पड़ेगा कि बाहर से जो भी जीवन चलता है वह अन्त में सुख का हेतु सिद्ध नहीं होता तथा अन्त में अनर्थ में ही पहुँचाने वाला होता है। यदि यह ज्ञान मन में जाग जाए, तो यह ज्ञानयोग व क्रियायोग दोनों मिलकर यदि कर्मयोग के साथ-साथ चलते रहे, तो मनुष्य को समझना चाहिये कि उसका धार्मिक (आध्यात्मिक) जीवन ठीक चल रहा है। इस धार्मिक जीवन में कोई भी किसी प्रकार का बन्धन व दासता नहीं है।

(6)

क्रिया-योग में श्वास (प्राण-शक्ति) के सहारे अपने-आपको अर्थात् अपने मन को शुद्ध करना होता है। इसमें समय निकालकर अपने आसन पर या कहीं एकान्त में बैठना है। यदि भोजन भी कर लिया है, तो भी कोई बात नहीं। अब समझते हुए श्वास लेना है व समझते हुए श्वास छोड़ना है। इससे प्राण और अपान सम करने का अभ्यास प्रारम्भ हो जायेगा यही क्रियायोग है। *गीता में इसका नाम प्राणापान समीकरण अर्थात् प्राण और अपान को सम करना कहा है।*

(7)

क्रियायोग के पहले भाग में सर्वप्रथम मन को अपनी देह में उतारने का यत्न करे (देह के अन्दर अपनी स्मृति (समझ) लगा दे ना), तो वह देह का योग हो

जाएगा। काया-योग से भी जो श्वास चलेगा, वह देह के अन्दर चलेगा। इसमें सावधानी यह रखनी है कि देह के अंदर अपने अंगों (पेट, जिगर, तिल्ली, दिल, फेफड़े, गुर्दे, बड़ी आँत, छोटी आँत आदि) का मन में स्मरण करते हुए (मन में चित्र-सा धारण करते हुए) श्वास लेते गये और छोड़ते गये। इस प्रकार जागते हुए समझ के साथ श्वास लेना व छोड़ना है। साथ ही अंगों की स्मृति को पूरे क्रियायोग का आधा ही समय देना है।

(8)

क्रियायोग के दूसरे आधे भाग में आधा समय बीत जाने पर, देह को भी भूलना आरम्भ कर देना है, अर्थात् देह के जिन अंगों को याद करते-करते श्वास लेते थे व छोड़ते थे उन सब अंगों की याद को छोड़ देना है। केवल समझते-समझते श्वास लेते व छोड़ते जाना है। यही देह को भूलते-भूलते श्वास लेना व छोड़ना है। अब सीधे-सीधे मन के साथ जुड़ने का अभ्यास करना है। जैसे ही साधक देह को भूलना शुरू करता है वैसे ही प्रकृति वाला मन (आदतों की शक्ति वाला मन) उस समय कई प्रकार की स्मृति सामने खड़ी करके साधक की स्मृति को श्वास से भटकाने का यत्न करेगा। तो इस प्रकार का यह युद्ध प्रकृति व क्रियायोग में चल पड़ेगा। जिसे साधक को जीतना है, अर्थात् समझ के साथ श्वास लेने व छोड़ने का कार्य करते रहना है। ऐसे अभ्यास से अन्दर बसे काम, क्रोध, स्मृति आदि को बिगाड़ने वाले विकार धीरे-धीरे नष्ट होते जायेंगे और ऐसे में अपनी स्मृति (याद) को नहीं खोना है। यह युद्ध है, जिसमें प्रकृति अपना तनाव उत्पन्न करके अपनी तरफ खींचती है और आपने अपना इधर समझ से श्वास लेने व छोड़ने का कार्य करते रहना है।

(9)

क्रिया योग में अड़चन डालने वाला तीसरा स्तर चित्त है, जोकि तीन प्रकार (राग-चित्त, द्वेष चित्त और मोह चित्त) से असर डालता है। अर्थात् जिस वस्तु से सुख प्रतीत होता है, उसमें मन की प्रीति हो जाती है, तथा उसी का चिन्तन होता रहता है, यही राग-चित्त है। जिससे दुःख मिलता है, उसके बारे में क्रोध का चिन्तन होता है तथा यह मन में सोच बना रहता है कि "यह कब दूर हो", यह द्वेष चित्त है। यदि आपके मन के अनुसार कार्य नहीं होता है, तो मन उसी के

कारण चिंता व शोक (दु:ख) में पड़ जाता है; यह मोह चित्त है। ये सब चिन्तन की धाराएं तीसरे स्तर पर हैं, जो मन की गहराई में बनी रहती हैं। तो ऐसे में साधक श्वास को समझ से लेता व छोड़ता रहे, तो इन तीनों प्रकारों के चित्त की पकड़ से मुक्त हो जाएगा।

(10)

प्रकृति के बंधन का चौथा स्तर सुख दु:ख की वेदना है, इसको भी प्राणापान स्मृति (क्रिया-योग) करते हुए पार करना है। इतनी ज्यादा सावधानी के साथ श्वास लेने व छोड़ने में ध्यान रखना है कि सुख का पता ही न लगे या सुख लेने में मन ही न रहे और ऐसे ही दु:ख में भी बेखबर-सा रहते हुए स्मृतिपूर्वक या समझ से श्वास लेने व छोड़ने के कर्म में ही मन लगा रहे। ऐसे में मन सुख और दु:ख दोनों प्रकार की वेदनाओं से बेखबर रहेगा, तो इनसे कहीं भी नहीं उलझेगा; इनसे मुक्त होकर परमपद का पूर्ण अधिकारी बन जायेगा। इस सुख दु:ख की समता के बिना परमपद की प्राप्ति भी नहीं होगी।

(11)

मनुष्य को जीवन यापन हेतु अनेकों कर्म करने पड़ते हैं जिन्हें वह छोड़ भी नहीं सकता। लेकिन आप कर्म करते हुए इन कर्मों के बीच में से काम (इच्छा) रूपी ठग को निकालने का यत्न करते-करते कर्म करने का अभ्यास करें तथा मन को उस कार्य के साथ जोड़कर कर्म करने का प्रयास करें। यदि इस प्रकार कर्म करने की युक्ति आपने सीख ली, तो समझो! निष्काम कर्मयोग आपने उत्तम रीति से सीख लिया है तथा सदा आप ध्यान में ही है। परिणाम स्वरूप आपका प्रत्येक कर्म भक्ति बन जाएगा तथा कर्मयोग का दृढ़ अभ्यास होने पर समाधि की योग्यता भी मिल सकती है। कर्मयोग में स्मृति और वीर्य की बहुत महत्ता है।

(26) प्रजापति (Prajapati)

(1)

सब प्राणियों के अन्दर एक जीवन का देवता रूपी तत्व बैठा हुआ है, जो जन्म से ही सबके साथ आया है, परन्तु अज्ञान के कारण प्रत्येक प्राणी उसी को ही

अपनी आत्मा या अपना-आपा समझता है। वेदों में इसको 'प्रजापति देव' कहा गया है। "(स वै शरीरी प्रथमा)" अर्थात् जो सबसे पहला शरीरी (शरीर में अपनी आत्मा का अभिमान करने वाला) है। जो कुछ भी मनुष्य के अन्दर भाव उत्पन्न होते हैं (जैसे हँसी, खुशी, दुःख, क्रोध, द्वेष आदि) वे सब इसी देव के कारण होते हैं। सत्य का ज्ञान पाने हेतु तथा धर्म के मार्ग पर चलने हेतु, इस शक्ति को समझना आवश्यक है क्योंकि इसको समझे बिना काम नहीं चलेगा। कारण मनुष्य इसी को 'मैं' व मेरी और 'तेरी' बना रहा है; जबकि ये उसकी है नहीं।

(2)

सबसे पहले इस 'सुख के देव' प्रजापति की लीला को समझना है, जो इस तरह की है कि जिधर सुख की वस्तु दिखाई देती है, यह उधर ही दृष्टि डलवाता है चाहे वह आपके हित के लिए हो, चाहे अहित के लिए हो। तो ऐसे में संयम से काम लेते हुए, हित को पहचानते हुए कार्य करना है ताकि आपकी बाहर की भक्ति खोटी न हो, कारण कि यदि बाहर खोटा रचा गया तो उसका फल भी भुगतना ही पड़ेगा।

(27) बुद्धि (Intelligence)

(1)

शास्त्रों के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की है- एक पक्षपात वाली बुद्धि और दूसरी निष्पक्ष बुद्धि। प्रकृति के संग वाली बुद्धि पक्षपात वाली बुद्धि है, जो एक पक्षीय होने से उचित नहीं है। इसके निर्णय पर धैर्य एवं एकाग्रता से विचार करने से जो दूसरी बुद्धि बनेगी वह निष्पक्ष बुद्धि होगी तथा उसी के फैसले को मानने में हित होगा। इसी को ही भगवान् की बुद्धि कहा गया है, तथा गीता में इसका नाम 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहा गया है, जो कि सत्य का निश्चय कराने वाली है यदि इस बुद्धि को साथ लेकर आप चलेंगे, तो यह बढ़ती-बढ़ती भगवान् की तरफ ले जायेगी। इस प्रकार प्रकृति की पक्षपात वाली बुद्धि तथा निष्पक्ष बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कर्म करना, जिसे मीमांसा कहा जाता है।

(2)

पुरातन ऋषि कहते थे कि आप भगवान् का भजन, पूजा पाठ, जप, कीर्तन करो अर्थात् कोई भी विधि अपनाओ, पर साथ-साथ यह भी देखते जाना है कि इस बहाने से अपनी आत्मा को सही रूप से कमाकर अर्थात् बलवान बनाकर इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न करनी है कि दु:ख को भी हज़म कर सकें। दु:ख से चलायमान होकर मनुष्य के अन्दर जो बुद्धि रूपी रत्न है उसको न खो बैठे, क्योंकि इसके खो बैठने पर अपने अन्दर नित्यानन्द या सदा बने रहने वाले आनन्द रूपी आत्मा को नहीं पा सकेगा, तो ऐसे में मनुष्य जन्म की सफलता भी नहीं होगी। इसलिए दु:ख को हज़म करने की शक्ति को बढ़ाना है।

(2)

सोचकर निश्चय करने की शक्ति जो परमात्मा ने केवल मनुष्य योनि को ही दी है, उसके बारे में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, *"व्यवसायात्मिका बुद्धि इत्यादि......"* अर्थात् किसी भी वस्तु का पक्षपात् रहित निर्णय या निश्चय करने की जो बुद्धि है वह सब मनुष्यों के अंदर समान रूप से "मैं" ही हूँ अर्थात् मेरा ही रूप है, और जो पक्षपात वाली बुद्धि है, वह तो सबके अंदर अपने-अपने पक्षपात् के अनुसार न्यारी-न्यारी है। तो इस प्रकार विचार रखते हुए अपनी निष्पक्ष बुद्धि के अनुसार नियमपूर्वक अपने को सम्भालकर रखता है, तो ऐसे में वह सब प्रकार से अपनी अन्दर की शक्ति का सही परिचय प्राप्त कर लेता है, जो बहुत आनंद की अवस्था होती है जो जागते-जागते ही प्राप्त होती है।

(3)

आनंद की स्थिति को प्राप्त करने के लिए मनुष्य 'मनमुख' न बनकर गुरु-मुख बने, अर्थात् थोड़ा नियमों के अनुसार, अपनी बुद्धि को जगाकर, सब विकारों को टालते हुए, अपने-आप को सम्भालकर चलने की इच्छा रखे। अपने आप को धारने या धारण करने का ही नाम धर्म है, जिस पर चलने के लिए आपको अपने-आप में कुछ बदलाव लाने होंगे। इस रास्ते पर चल पड़ने पर कुछ खोटे कर्मों से टलना होगा जैसे जीव हत्या, दुराचार, नशेबाजी आदि। मन के विचारों

को पहचानते हुए विशेषकर खोटे विचारों पर निगाह रखना, गलतियों को सुधारने की सोच व उनके अनुसार अपने में आवश्यक बदलाव की हिम्मत का संकल्प बनाना। बुद्धिपूर्वक जीवन ही पाप रहित होगा क्योंकि बुद्धि है, तो ही सब कुछ ठीक चल सकेगा।

(28) प्रमाद (Non-vigilance or Heedlessness)

(1)

हितकारी मार्ग पर चलने में थोड़ा-सा आदत का पहले वाला सुख न मिलने से ग्लानि होती है, जिसे शास्त्रों में प्रमाद कहा गया है। प्रमाद के दो अंग (रूप), हर्ष और ग्लानि हैं। एक तरफ से हर्ष होता है और दूसरी तरफ से ग्लानि। यही हर्ष किसी वस्तु से ग्लानि करवाता है कि इस दिशा में नहीं जाना है। जैसे किसी को थोड़ी-सी ठंड लग रही है और वह गर्म कपड़ों में बैठा हुआ गर्मी का सुख ले रहा है, यदि उसे ठण्डे पानी से स्नान करने को कहा जाए, तो वह उसे अच्छा नहीं लगेगा। यही प्रमाद है कि थोड़ी-सी गर्मी का सुख लेने के लिये स्नान द्वारा शरीर शुद्धि के बड़े सुख को छोड़ना। तो इस प्रकार अपने-आप को मन की थोड़ी खुशी व सुख मानने के कारण हित (भलाई) के कार्य छोड़ना ही प्रमाद कहलाता है, जो मनुष्य को कल्याण के रास्ते पर चलने के लिए दुर्बल बनाता जाता है।

(29) संन्यास (Renunciation)

(1)

अपने भौतिक सुख के लिए जो वस्तुएं हम सेवन करते थे यदि उनका बना रहने वाला संग अन्तत: दु:ख व संकट ही उत्पन्न करने वाला है, तो क्यों न जवानी में ही उद्योग करके उनसे छुट्टी पा ली जाए। उनके (वस्तुएं के) बिछोड़े के दु:ख को सहन करते-करते मन यदि अन्दर सुख पा जाए, तो इसका नाम संन्यास हो गया अर्थात् बाहर से बिल्कुल छुट्टी (मुक्ति) मिल गई। चाहे यह आप घर बैठे-बैठे भी प्राप्त कर सकते है या जंगल (वन) में जाकर। पर यदि इनसे पीछा नहीं छुड़ा पाये, तो नयी आसक्ति व पुराने अपनाए सुख के साधन

आपको अपनी ओर खींचेगे। यह सब बुढ़ापे में, रोगी शरीर जो स्वयं असहाय है, कैसे साध सकेगा ? इसलिए जिस जगह आप बैठे हो, उसी स्थान पर रहते हुए तृष्णा त्यागते जाना है तथा विचार के साथ काम करते जाना है, अपने मन को विचार और ज्ञान द्वारा सम्भालते रहना है और आदतों के रास्ते बहने नहीं देना है। अपने को सम्भालने में जो कष्ट होता है, उसको सहन करना है, जो तप रूप है।

(30) समाज में व्यवहार (Social Behaviour)

(1)

मनुष्य के अन्दर सदा एक झुकाव रहता है कि मैं इतनी स्वंतत्रता के साथ सदा इस संसार में रहूँ कि मेरे कार्य में कोई विघ्न-बाधा न डाले। जैसा मैं चाहूँ वैसा ही होना व बना रहे। पराधीनता सबको बुरी लगती है। लेकिन संसार व समाज में मनमानी तो किसी की चलती नहीं, तो प्रत्येक को कुछ नियमों के अधीन जीवन साधना होता है तथा उसी के अनुरूप अपनी सहन-शक्ति को भी बढ़ाना होगा, संयम रखना होगा व आवश्यकता अनुसार पराधीनता भी एक सीमा तक स्वीकार करनी होगी तभी जीवन सुगम रूप से चल पायेगा।

(2)

हम संसार में समुदाय में रहते हैं, जिसके प्रति हमारा कर्त्तव्य है उचित व्यवहार। यदि मनुष्य समुदाय के बीच में ठीक नहीं चलेगा, तो उसे समुदाय का मन भी बांधेगा। बाहर ठीक रीति से यदि नहीं चला जायेगा, तो दूसरे बाँधते हैं। अब इन दूसरों से भी छुट्टी (मुक्ति) पानी पड़ेगी। तब ही निरुपाधि मन अपने -आप में स्थिर होता है। सो सही बर्ताव रखने पर दूसरों में भी आपके प्रति प्रीति व श्रद्धा बनी रहेगी।

(3)

सही ढंग से अपने-आप को समाज में चलाने के लिए दस बलों की भक्ति करनी पड़ती है। इनको अपने-आप में टिका लेने से बाहर संसार में मनुष्य मन से निर्बल नहीं होगा। योग दर्शन में भी कहा है कि जब तक मैत्री, करूणा,

मुदिता एवं उपेक्षा इन चारों भावों की भक्ति नहीं हो जाती, तब तक मन ध्यान के योग्य नहीं बनता।

(31) गुरु, आदर्श शिष्य के गुण (Preceptor, Qualifications of a true disciple)

(1)

हमारे शास्त्रों में "सीखना" गुरू शिष्य भाव को कहते हैं। शिष्य नाम से तात्पर्य यही है जो सीखने के योग्य है अर्थात् जो अपने अन्दर सचमुच ठीक तरीके से सत्य को लाकर फिर अन्दर से कुछ न कुछ ज्ञान द्वारा सीखे। असलियत में शिक्षा पाने योग्य वही है। ऐसे अन्तरात्मा में सीखने अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिए आँखें बन्द नहीं करनी पड़तीं। संसार में रहते हुए भी बहुत-सी बातें सीखी जा सकती हैं। श्री दत्तात्रेय जी ने चौबीस गुरू धारण किये थे, जैसा सर्वविदित है। अब यह चौबीस गुरू कैसे थे? उनका तात्पर्य यह था कि सीखने पर मन तुला हुआ है और वह अपने मन में हर समय जागता रहता है। जो कुछ भी वह अपने-आप में सीखता है वह सारा सीखना अन्दर की शिक्षा ही तो है, और वह शिष्य रूप ही है। जो दत्तात्रेय जी ने चौबीस गुरू बनाए थे उनसे उन्होंने जीवन के मर्मपूर्ण सिद्धातों को सीखा जो जनोपयोगी हैं।

(2)

पुराने महात्माओं व ऋषियों ने सीखने के लिए कुछ नियम बनाए हुए थे। जैसे किसी दिन ऐसा नियम है कि व्रत करना, जिसमें नमक नहीं खाना है। नमक सारे स्वाद रूप हैं और नमक खाने की तृष्णा बढ़ी हुई है। यह तृष्णा पूरी न होने के कारण मन भटक जाता है। ऐसे में नमक को न डालने के बारे में जो जुम्मेवार है उसको भी न समझी के कारण बुरा भला कह बैठता है। उस समय का कहा हुआ भला बुरा तो कोई कीमत का नहीं, परन्तु इससे मन की इतनी आधीनता व पराधीनता में इसकी अशान्ति इतनी जबरदस्त है कि मरते समय भी इसी का चिन्तन करता हुआ मनुष्य अशान्ति में ही मरेगा; कारण कि पहले वाले स्वाद वाले पदार्थ तो छूटने ही हैं। जिस समय वे छूटेंगे जीवन तो जीते जी

ही नरक हो जायेगा। इस तृष्णा को छोड़ करके, आत्मा यदि शान्त हो गई, तो उस मनुष्य ने आत्मा को परख लिया। अब इस प्रकार सीखते-सीखते ऐसी आत्मा की बाहर किसी से ठोकर बाजी नहीं और दूसरों में भी उसे वही शान्त आत्मा दिखाई देगी। ऐसे में यदि शिव रूप आत्मा शान्त रहे, तो सर्वत्र शान्ति दिखाई पड़ेगी।

(3)

मनुष्य को सबसे पहले तो यह सीखना है कि बाहर की तृष्णा का सब सुख पराधीन है, तो स्वतंत्र आत्मा का सुख उसे कैसे प्राप्त होगा? फिर तृष्णा कभी भी पूरी होने वाली नहीं है, इसलिए इससे मुक्ति पानी ही होगी। इस हेतु तृष्णा के त्याग का दुःख देखते-देखते सहन करते जाना है। जब अन्दर में सीखने की बात निकल आयेगी व अन्दर से प्रेरणा आ जायेगी, तो फिर यदि आपने सीख-सीख करके प्रेरणा के ढंग से अपने को साधना शुरू कर दिया, तो यह आत्मा का साक्षात्कार हो जायेगा क्योंकि सच्चा सुख तो अपनी आत्मा में ही है। यदि आत्मा आनंद रूप में मिलने लगेगा, तो फिर दुःख को देखते-देखते ही सहन करने व टालने का रास्ता भी निकल आयेगा। संसार में दूसरों के सहारे जीने वाला मनुष्य कभी भी इस आत्मा के सुख को नहीं पा सकता।

(32) स्वाध्याय (Introspection)

(1)

साधक को चाहिये कि धर्म ग्रन्थ पढ़ने के साथ या प्रवचन सुनने के बाद पहला उद्योग यह करे कि वह अपने जीवन का निरीक्षण करे तथा उसमें आवश्यक सुधार लाए। ऐसा करते-करते उसे अंत में अपने अन्दर का प्रत्यक्ष नाटक दिखने लगेगा तथा सारे संसार का नाटक भी समझ में आने लगेगा। उसे यह भी अनुभव होगा कि जो खेल उसके अन्दर हो रहा है, वही खेल बाहर सब के अन्दर भी हो रहा है, तो आत्मा और परमात्मा में फर्क क्या

है? बस! इतना ही है कि आत्मा एक रूप है और परमात्मा सर्वरूप और अनन्त है।

(2)

जैसे-जैसे साधक के अंदर की तरंगों की पहचान व समझ होने लगती है, तो उसकी अन्दर की विद्या शुरू हो जाती है। उसे स्पष्ट पता लग जाता है कि कब उसने भड़कावे में आकर कड़वा वचन दूसरे को बोला, जिसके कारण दूसरे ने भी मुझे दस कड़वी बातें सुनाईं, तो मुझे आगे से इससे सबक लेकर सावधान रहना है क्योंकि पहले जो हुआ वह तो उलटाया नहीं जा सकता। ऐसे में सोने से पहले अकेले में या सवेरे उठकर यदि उनका चिन्तन किया जाए, तो बहुत-सी बातें समझ में आयेंगी और सीखने को भी मिलेंगी। अब उनको सीख-सीख कर यदि आगे के लिए आप अच्छा करना चाहोगे, तो यह पढ़ाई (स्वाध्याय: अपने-आप का अध्ययन); आपको अन्तरात्मा को पहचानने के रास्ते पर चलायेगी। यह अपने-आप की विद्या आपको उन तत्त्वों का ज्ञान देगी जो मनुष्य को खोटे रास्ते चलाकर विपरीत कर्म करवाते हैं। अन्तः करण की शुद्धि से ही आत्मा का सुख प्राप्त होता है।

(3)

स्वाध्याय में थोड़ी हिम्मत (वीर्य) की आवश्यकता होती है, क्योंकि मन ध्यान में नहीं बैठना चाहता व तंगी महसूस करता है। पर स्वाध्याय के बिना प्रकृति की तरंगे (बुद्धि को प्रेरित करना, मन में उद्वेग पैदा करके इन्द्रियों को चलाना आदि) शरीर को चला करके किधर-किधर उलझा देती हैं। ये सब बातें स्वाध्याय करने वाला मन ही समझेगा। प्रकृति, बुद्धि को उत्पन्न ही नहीं होने देती, क्योंकि उसकी दृष्टि संसार के छोटे-मोटे सुखों की ओर ही भागती रहती है। स्वाध्याय करते-करते जब मन पहचानने में आने लग जाए, तो समझो! ध्यान लगने लग गया। मन जागने पर बाहर का संसार खोने लगता है, अर्थात् काम (इच्छा) का जाल मन से उतर जाता है, अर्थात् मन संसार से बिछुड़ गया और अन्दर ही अपने ध्यान में लगा रहेगा।

खण्ड - 9

वृद्धावस्था में सुखी कैसे रहें? तैयारी शुरू से ही करें।

(How to live happy in oldage ? Start preparation from youth)

(1)

यदि बुढ़ापे (वृद्धावस्था) में पहुँचकर मनुष्य यह सोचे कि वह केवल बाहर के साधनों, जैसे धन, परिवार के सदस्य, मित्र आदि के सहारे ही अपने जीवन का कल्याण (हित) करता हुआ सुख से रह सकूँगा, तो यह उसका इतना उत्तम निश्चय व विश्वास नहीं होगा। बुढ़ापे का सच्चा संगी-साथी व सहारा छोटी आयु से शुरू अर्थात् तरुण आयु से प्रारम्भ किया हुआ धर्म ही बनेगा। यदि मनुष्य ने अपनी तरूण तथा यौवनावस्था में अकेले में मन लगाने का धर्म अपना रखा है, चाहे वह भगवान् का चिन्तन हो या ध्यान करके सत्य आत्मा को समझने हेतु हो, तो समझो! उसकी जीवन नौका सही ढंग से पार हो सकती है। इसमें सभी प्रकार की तृष्णाओं को धीरे-धीरे त्यागते जाना है। यह सब बुढ़ापे में एकदम से नहीं हो सकता। यदि बचपन से लेकर जवानी तक भी सभी प्रकार के सद्गुणों का ध्यान चालू हो गया, तो समझो! भगवान् जीवन में प्रवेश पा गया।

(2)

उपनयन (जनेऊ यज्ञोपवीत) संस्कार का मूल उद्देश्य इस प्रकार की समझ को (प्रज्ञाओं को) बढ़ाते जाना है, जिससे काम, क्रोध आदि विकार दबे रहें या नष्ट हो जाएं, तथा वह बालक शुभ कर्मों को करने हेतु आवश्यक वीर्य (हिम्मत) भी बढ़ाता जाए। यही सब धर्म हैं जिन्हें शुरू से सीखते जाना है, कारण बुढ़ापे में एकदम से इन्हें नहीं अपनाया जा सकता। यही शिक्षा 5 से 16 वर्ष की आयु में गुरु द्वारा दीक्षा के रूप में दी जाती थी कि "अब तुम यज्ञ से बँध गये हो" अर्थात् धर्म के अनुकूल आचरण करते हुए जीवन यापन करना है। सार रूप में सब अच्छे गुण उपजाओ, देव-सज्जनों की संगति करो तथा अहंकार का त्याग करो। यदि इस प्रकार यह सब बचपन से जवानी तक भी इन्हीं सद्गुणों का ध्यान चालू हो गया, तो समझो! भगवान् जीवन में प्रवेश पा गया।

(3)

बच्चा जो समाज, प्राणी, पदार्थों व नाना प्रकार के कर्मों के साथ बँधा हुआ ही पैदा होता है। ये बंधन उसे सारी आयु तक सुख भी नहीं दे सकते और निभ भी

नहीं सकते, इसलिये धर्म को अपनाना ही उचित है। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि बुढ़ापा आने पर ही धर्म को अपनाना है, वरन् शुरू से ही इसे दृढ़ता से पकड़ लेना है। इसके लिए जीवन शोधन करना होगा तथा सोच में भी बदलाव लाना होगा। अपनी आदतों पर नियंत्रण रखना होगा तथा आवश्यकताओं को कम करते हुए धर्मानुकूल आचरण व्यवहार में शुरू से ही लाया जाए, तभी मन में आत्मा का धर्म उतरेगा। कारण बुढ़ापे में ये सब बदलाव करना तथा नई आदतें डालना बहुत दुर्लभ है।

(4)

यदि आप लड़कपन से ही झुक करके जीना सीख लें, तो बाहर भी झुक लेंगे। बूढ़ों की आज्ञा का पालन करने व उनकी जरूरतों को पूरा करने से मनुष्य की चार वस्तुएँ आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। जो नित्य बड़ों के सामने निस्वार्थ भाव से झुकता है, उनके क्रोध को सहन करके विनम्रता के साथ उनकी सेवा पूजा करता है और प्रेमपूर्वक नम्र शब्दों में आदर सहित उनकी बात का उत्तर देता है, तब ही उसे चार फल मिलते हैं। संयमी तथा धर्मानुकूल जीवनयापन करने से वह प्रकृति की दासता से मुक्त हो जायेगा तथा बुढ़ापे में भी बच्चों के बीच में आराम से रह पायेगा।

(5)

बुढ़ापे में अनादर व तिरस्कार के दुःख से बचने के लिए जवानी से ही धर्म की शरण लेनी चाहिये। इसकी शरण में लगा हुआ मनुष्य यदि अपने-आप को समझने में और गुणों को उपजाने में और एकान्त में पुराने सब सुखों के बिछोड़े के दुःख को सहन करता हुआ और उनसे सीखता हुआ निद्रा, आलस्य त्यागता हुआ दिन, मास और साल व्यतीत करता रहेगा, तो वह आध्यात्मिक अर्थात् आत्मा में ही जीवन पायेगा। यही संसार बंधन से छुटकारा बनेगा, जिसे शास्त्रों में अनंत ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति कहा गया है। सार रूप में सांसारिक सुखों के लोभ को छोड़कर अल्प वस्तु जो प्राप्त है उसी में सन्तोष रखना है, साथ ही मन की शान्ति हेतु विचार, विवेक से सत्य का ज्ञान उपजा करके, अपने सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पानी है। इस प्रकार 'जीवन मुक्त' बनने हेतु यह मोक्ष धर्म सफल होता है।

(6)

आध्यात्मिक जीवन का पालन करने में प्रातः उठना, नित्य नैमित्तिक कर्म जैसे नहाना-धोना, संध्या-वंदन, ध्यान में बैठना आदि करना तो है ही, पर इसके साथ-साथ ही स्मृति ठिकाने रखकर, विकारों व भड़कावों को न तो मन में उठने देना और न ही इनको मन में बहने देना है। ऐसा हो सकने पर देह में अनुकूल परिवर्तन होंगे। पूर्व के ऋषियों के अनुसार मनुष्य जब खाली हो जाता है, उसके लिए बाहर कुछ करने-कराने का नहीं रहता (विशेषकर बुढ़ापे में), तो ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि श्वास भी भली भाँति चले, अथवा विकारों के बिना चले। तो इसके लिए खाली लेटे-लेटे श्वास चलाने की अपेक्षा पहले आसन पर बैठे; जो श्वास अन्दर आये उसे समझ से ले; जो श्वास बाहर छोड़े उसे समझ से छोड़े। इस तरह श्वास के लेने और छोड़ने के बीच में यदि बुद्धि बनी रही, तो सब विकार धीरे-धीरे टलते जायेंगे। सब खोटे विचार भी मन से उतर जायेंगे जैसे इच्छाएँ, क्रोध, संशय आदि। श्वास समझ के साथ लेने व छोड़ने से मन कहीं नहीं उलझेगा। इस तरह से करते हुए जो निर्मल श्वास चलेगा वह सारी देह के रोगों को मिटा देगा और मन को नाना प्रकार के भावों में भी भटकने से रोकता रहेगा। बुढ़ापे में इस तरह का जीवन सुखमय होगा।

ॐ

साधक साध्वी गुरुप्रिया पुरी (सत्यम् शिवम् सुन्दरम् मन्दिर), दिल्ली 110051 के हृदय की सरल प्रार्थना पर गुरुदेव तुल्य दयालु ऋषि परमहंस वीतराग स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज द्रवित हो गए और मधुर स्वर से निम्न उपदेश देकर एकदम शान्त एवं स्वरूपस्थ हो गए। महाराज जी ने कृपा करके फरमाया कि वत्स्! परम दयालु प्रभु को प्राप्त करने के लिए सरल हृदय से स्तुति एवं प्रार्थना अत्यन्त सरल एवं समर्थ साधन हैं।

स्तुति एवं प्रार्थना

प्रार्थना का महत्त्व : नारायण! प्रार्थना सत्सङ्कल्प है, शरणागति का रूप है, परम सत्ता से सम्पर्क का उपाय है। अहं के सहारे या अन्य सहारे वाले सभी साधन या उपाय प्रार्थना की उपेक्षा कमजोर होते हैं। सच्ची प्रार्थना व्यर्थ होती ही नहीं। किसी भी संकट अथवा समस्या को प्रार्थना तत्काल हटा देती है। सद्बुद्धि और संयम की शक्ति परमात्मा से प्रार्थना द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तात्कालिक विघ्न निवृत्ति व ईश्वर कृपा प्राप्ति का यह अनन्य उपाय है।

विधि : निद्रा से ठीक पहले व नींद खुलने के तत्काल बाद प्रतिदिन प्रार्थना करें। पहले परमात्मा के स्वरूप का स्मरण, तत्पश्चात् परमात्मा के प्रत्येक वाक्य का गम्भीरता व मधुरतापूर्वक उच्चारण करें, फिर कुछ क्षण शान्त रहें। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य का प्रयोग करें। निम्नलिखित प्रार्थना में कम से कम एक बार में पन्द्रह मिनट लगायें। प्रार्थना में परमात्मा का जो स्वरूप बताया गया है, उसमें दृढ़ विश्वास हो जाना तथा जो अपेक्षा की गई हैं, उसकी पूर्ति होने लगना प्रार्थना की सम्यक्ता का लक्षण है।

परमात्मा के स्वरूप का ध्यान और स्तुति : हे सबको उत्पन्न करने वाले, सबको सुख देने वाले तथा सबको अपने में लय कर अद्वयमोक्ष प्रदान करने वाले आप ही अपरिवर्तनशील हैं। सब की आत्मा हैं। आनन्द स्वरूप हैं और अद्वय हैं। आप सब कुछ कर सकते हैं। सबको निरन्तर जान रहे हैं। सब आप के वश में हैं। आप सब जगह और सर्व रूप में उपस्थित हैं।

प्रार्थना : (क) हे आकाशवत् परिपूर्ण आनन्द चैतन्य! परम हितैषी! सबसे अधिक प्रिय। तटीक्षा व अनपेक्षा से मन में शरणागति का भाव बना रहे। मुझे वासना से,

झूठे अभिमान से, लोगों के असत् प्रभाव से, दुःखों के भय से तथा तात्कालिक अनुभाव्य सुखों के लालच से बचावें। मुझे सद्विवेक, श्रद्धा और संयम की परिस्थिति प्रदान करें। मैं आत्मानुसन्धानपूर्वक आनन्दी हो जाऊँ।

(ख) हे अनन्त! मैं सद्गुरू के निर्देशानुसार ही लक्ष्य की दृष्टि से सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करूँ। जिसके बिना काम चल सके, उसे छोड़ दूँ और निरन्तर सावधान रहूँ। जिसे छोड़ना है, उधर ध्यान न दूँ और जिसे स्वीकार करना है, उधर ही मेरी दृष्टि बनी रहे। सर्वत्र और सर्व रूप में आप को न भूल पाऊँ। आप के स्वरूप के अनुरूप ही मेरा व्यवहार भी हो।

(ग) हे अमृत! समीक्षणपूर्वक सद्विद्या की पूर्णता तक मुझे कोई बाधा न हो। प्राणापान-समायोग द्वारा वैश्वानर का समादर करूँ, जिससे यह प्राप्त शरीर नीरोग, स्वस्थ एवं समर्थ रहे।

(घ) हे रस स्वरूप प्राज्ञ! समग्र सम्प्रेषण आप से ही प्राप्त करूँ। आनन्दमय कोष का भी अतिक्रमण कर जाऊँ। सत्य सुख के प्रकाशन का अमोघ प्रभाव रहे। मुझे सभी प्रकार से योगक्षेम प्राप्त रहे। यह सब तन, मन और 'मैं' आप में समर्पित हों। अत: अन्य सब और मैं कुछ नहीं हैं।

हरि ओ३म् तत् सत्!

Updated detail of Collection from blessed devotees for publication of Biography of Swamiji Maharaj and Daily Meditaiton on the Divine Spiritual Life.

S. No.	Name of Donor	Date	R.No.	Amount Rs. P.
1.	*Smt. Vimla Bhanot, New Delhi*	*19.03.19*	*710*	*5,100.00*
2.	*Smt. Nirmal Sharma Ji, Panckhula*	*19.03.19*	*711*	*2100.00*
3.	*Sh. Harsh Kumar c/o Sh. Anand Sharma Ji, Chandigarh*	*19.03.19*	*712*	*5100.00*
4.	*Mr. Bala c/o Sh. Anand Sharma Ji, Chandigarh*	*19.03.19*	*713*	*5100.00*
5.	*Dr. Neelam Marwahaji, Chandigarh*	*19.03.19*	*714*	*11000.00*
6.	*Sh. Anand Sharma Ji Chandigarh*	*19.03.19*	*715*	*11000.00*
7.	*Cancelled*		*716*	
8.	*Sh. Jagan Nath Garg & Family, Ontario (Canada)*	*8.0618*	*717*	*15000.00*
9.	*Late Sh. Jai Parkash Mathurji, Majri through Amit Mathur*	*18.03.21*	*718*	*5100.00*
10.	*Sh. Kishor Kumar Ratraji C-6, Flat No. 70, DDA Colony East of Kailash, Delhi-110065*	*5.04.21*	*719*	*51000.00*
		Total		***1,10,500.00***
11.	*Previous Balance on 18.02.2019*			*95858.00*
12.	*Interest for PNB upto 05.06.2021*			*11508.00*
		Grand Total		***217866.00***

Expenditure on publishing Anmol Amrit Vachan Book (2nd Edition)

1.	Expenditure for dispatching of spiritual books of Rev. Swamiji Maharaj through Regd. Pkt. to the spiritual readers from 01-07-2021 to 20-10-21	1483.00
2.	Typesetting of 2nd Edition of Anmol Amrit Vachan	1000.00
3.	Paper	
4.	Printing of 550 Books	47,593.00
5.	Binding of 550 books	
6.	Lamination of Photo and Title	
	Total	50,076.00
	Previous Balance	1,28,532.00
	Expenditure	– 50,076.00
	Net Balance after publishing Anmol Amrit Vachan 2nd Edition	78,456.00

स्वामी जी महाराज द्वारा प्रणीत

हिन्दी में प्रकाशित धार्मिक ग्रन्थः

- अध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग –1
- अध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग –2
- अध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग –1 (व्याख्या सहित)
- अध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग –2 (व्याख्या सहित)
- कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण
- स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज का जीवन चरित
- ओ३म् व सोऽहम् की व्याख्या

नोटः उपर लिखित पुस्तकें अंग्रेजी में भी उपलब्ध हैं।

In this "Kaliyug" the world infected with five vices:

DESIRE	-	**KAAMA**
ANGER	-	**KARODHA**
GREED	-	**LOBHA**
ATTACHMENT	-	**RAGA**
AVERSION	-	**DWESHA**

Could there be a Sanyasi - Sant - Swami

Who in his life span of about 84 years

Never wished material comforts

Never accepted nor touched money from any source

Never allowed any woman without company of a male companion to meet him

Took his daily food only once in a day comprised of 'Bhiksha' (Alm) from five houses

Did not make any Ashram, Akhara or Math

Did not adopt any disciple (Shishya)

Never claimed to be a Spiritual Guru nor boasted of any accomplishment ?

Yes !

There was a Swami – A Saint in person of

SWAMI DAYANAND GIRIJI MAHARAJ

Who is immortal in the hearts of thousands of devotees.

Website : www.swamidayanandgiriji.in